निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने की प्रधान प्रेरणा हमको अपने इन्टरमीजिएट और बी० ए० के विद्यार्थियों से मिली है। श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटक अनेक परीक्षाओं के लिए पढ़ाए जाते हैं, और उनका अध्ययन कठिन है। विद्यार्थिगण प्राय. ऐसी पुस्तक या लेखों की कामना करते थे जिनमें वह नाटककार की कला के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें जान सकें। हमसे अनेक बार इस प्रकार के कुछ लेख लिखने का अनुरोध किया गया। क्लास के भीतर बताई गई बातों की अपेक्षा वे लिखी हुई बातो का अधिक आदर करते हैं, क्योंकि इसमें उन्हे अपनी स्मृति और तर्कशक्ति पर उतना अधिक जोर नहीं देना पड़ता—पकी-पकाई सामग्री सदा उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहती है।

यद्यपि, विद्यार्थियों को दृष्टिगत रखकर, विचारणा की जटिलता या अतिविस्तार को यथाशक्ति दूर रक्खा गया है, और इस लिए कहीं कहीं हमको संकेतमात्र पर भी सतोष कर लेना पड़ा है, तथापि हमारा यह कर्त्तव्य अवश्य रहा है कि केवल रट लेने भर के संकेत ही इस पुस्तक में उन्हे न दिए जाएँ—उनकी स्वतंत्र विवेचनात्मक शक्ति को भी कुछ स्वाभाविक उत्तेजना मिले। ...के लिए पहले कुछ नाट्योपचारों की साधारण जिज्ञासा ...की चेष्टा की गई है और तदुपरान्त नाटककार के

'प्रसाद' की नाट्य-कला

लेखक

प्रो० रामकृष्णशुक्ल एम० ए०, 'शिलीमुख',

प्रधानाध्यापक, हिन्दी और संस्कृत, यूइंग क्रिश्चियन कालेज,

इलाहाबाद ।

प्रकाशक

मानससुक्ता-कार्यालय ।

पुस्तक-प्राप्ति के स्थान—

१. मोहन्स लिमिटेड,
१-३, शिवचरणलालरोड, प्रयाग।

२. लेखक।

मुद्रक—पं० बलदेव प्रसाद मिश्र,
मिश्र प्रिंटिंग वर्क्स, प्रयाग

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने की प्रधान प्रेरणा हमको अपने इन्टरमीजिएट और बी० ए० के विद्यार्थियों से मिली है। श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटक अनेक परीक्षाओं के लिए पढ़ाए जाते हैं, और उनका अध्ययन कठिन है। विद्यार्थिगण प्रायः ऐसी पुस्तक या लेखों की कामना करते थे जिनमें वह नाटककार की कला के सम्बन्ध में कुछ सामान्य बातें जान सकें। हमसे अनेक बार इस प्रकार के कुछ लेख लिखने का अनुरोध किया गया। क्लास के भीतर बताई गई बातो की अपेक्षा वे लिखी हुई बातो का अधिक आदर करते हैं, क्योंकि इसमें उन्हे अपनी स्मृति और तर्कशक्ति पर उतना अधिक जोर नहीं देना पड़ता—पकी-पकाई सामग्री सदा उनकी सेवा के लिए प्रस्तुत रहती है।

यद्यपि, विद्यार्थियों को दृष्टिगत रखकर, विचारणा की जटिलता या अतिविस्तार को यथाशक्ति दूर रक्खा गया है, और इस लिए कहीं कहीं हमको संकेतमात्र पर भी संतोष कर लेना पड़ा है, तथापि हमारा यह कर्तव्य अवश्य रहा है कि केवल रट लेने भर के संकेत ही इस पुस्तक में उन्हे न दिए जाएँ—उनकी स्वतंत्र विवेचनात्मक शक्ति को भी कुछ स्वाभाविक उत्तेजना मिले। इसके लिए पहले कुछ नाट्योपचारों की साधारण जिज्ञासा स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है और तदुपरान्त नाटककार के

सम्बन्ध में कुछ संक्षिप्त वक्तव्य दिया गया है। इस चेष्टा का एक उद्देश्य यह भी है कि पुस्तक केवल 'प्रसाद' के विद्यार्थियों के ही काम की न हो—नाट्यशास्त्र के दूसरे विद्यार्थी भी इसका उपयोग कर सकें। साथ ही, हम यह भी आशा करते हैं कि साहित्यिक अभिरुचि के इतर पाठक भी इससे अपना थोड़ा-बहुत मनोविनोद कर सकेंगे।

नाट्यकला का दिग्दर्शन कराने में नाट्यशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। ऐसे स्थलों पर सुभीते के लिए उनके पर्यायवाची विदेशी भाषा के शब्द ब्रैकटों में दे दिए गए हैं। जो शब्द हिन्दी में प्रचलित हो गए हैं उनके पर्याय नहीं दिए हैं।

पुस्तक बड़ी खाा-खची में लिखी गई है। एक मास के भीतर इसका प्रणयन, प्रूफ-रीडिंग और छपाई, सब कुछ, हुआ है। अतः इसमें एक-दो नहीं, असंख्य भूलें हुई होंगी। पुनरुक्तियाँ तो हुई ही हैं—जो विद्यार्थियों की दृष्टि से किञ्चित् अभिप्रेत भी थीं—सम्भव है, कहीं कहीं कुछ असम्बद्धता भी आगई हो। कभी कभी हमको प्रेस में ही बैठकर कम्पोजिटरों के लिए लिखना पड़ा है। एक एक पाराग्राफ समाप्त होता था और उससे सिर पर खड़े हुए चार चार कम्पोजिटरों की भूख को बहलाना पड़ता था। प्रारम्भ में काम ज़रा शिथिलता से हुआ जिसके कारण अन्तिम पाँच छै फर्मे एक सप्ताह के ही भीतर लिखे और छपाए गए। पुस्तक में छपाई की भी कुछ अशुद्धियाँ हैं, जिनके लिए पाठकों को प्रेस की असीम कृपा और प्रूफ-रीडिंग में हमारी असीम योग्यता का कृतज्ञ होना चाहिए।

हमको एक बात की और भी क्षमा माँगनी है। हमारा विचार था कि पुस्तक के अन्त में 'स्कंदगुप्त' के ऊपर भी एक परिच्छेद देंगे, परन्तु समय की कमी के कारण हम ऐसा नहीं कर सके। यदि भविष्य में सम्भव हुआ तो हम अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करेंगे।

इस पुस्तक को हिन्दी जनता के मध्य मे भेजते हुए हम कुछ घबड़ा रहे हैं। श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' हिन्द अति श्रेष्ठ और प्रसिद्ध नाटककार हैं। हमारे हृ उनकी कला के लिए बहुत बड़ी श्रद्धा है। इत भी हमने उनकी आलोचना लिखने का दुःसाहस किय यही हमारी घबड़ाहट का कारण है। हिन्दी में आलो- के काम को हम एक प्रकार से साहित्यिक साहसिकता ही समझते हैं। हिन्दी के पाठक हमारे इस प्रयास को किस दृष्टि से देखेंगे, यह उनकी मनोवृत्ति पर निर्भर है। 'प्रसाद' जी से हमारा कोई परिचय नहीं है। परन्तु हमने बहुत लोगो से सुना है कि वह हृदय के उदार हैं। हम अपनी त्रुटियों को जानने और उन्हें सुधारने के लिए तैयार ही नहीं, उत्सुक भी, रहेंगे। परन्तु किसी के प्रयास में सहसा किन्हीं व्यक्तिगत निमित्तों का संदेह कर लेना न तो राष्ट्रभाषा की मर्यादा को ही बढ़ाता है और न संदेह करने वालों के लिए ही शोभाकर है। इस सविनय संकेत के लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं, पर हिन्दी का वातावरण अभी कुछ ऐसा ही है, इसीलिए इसकी आवश्यकता समझी गई।

प्रयागराज,
मार्च, १९३०।

'शिलीमुख'

१

नाट्यकला—प्राच्य और पाश्चात्य।

प्राच्य

नाट्य और नाटक की भावना मनुष्य मात्र में समान होने के कारण नाटक का उदय सर्वत्र एक ही प्रकार से हुआ। मनुष्यमात्र में भिन्न भिन्न भावनाओंसे प्रेरित होकर एक दूसरे का अनुकरण करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। बच्चा तो अनुकरण करता ही है, बड़े लोग भी कभी किसी को हँसी उड़ाने के लिए, कभी किसी के प्रति आदर-भाव से प्रेरित होकर, कभी अद्भुत के कौतूहल से, एक दूसरे का अनुकरण करते हैं। कालिज के विद्यार्थियों में, अपने शिक्षकों

नाट्य-प्रवृत्ति—अनुकरण

की विडम्बनापूर्ण नक़ल करने की प्रेरणा, प्रतिवर्ष देखने की बात है। इसी प्रकार किसी और भावना के वशीभूत होकर लोग राम और कृष्ण के चरित्रों का अनुकरण करते हैं। अनुकरण करने की यही प्रवृत्ति नाटक का मूल है। भरत ने कहा है 'लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्'। यही बात यूनान के आचार्य अरस्तू ने भी कही है।[1]

नाटक के प्रारम्भिक विकास की तमाम अवस्थाओं के अनुसरण करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। और न उसके दृश्य पक्ष की विवेचना ही इस स्थान पर की जायगी। कहा जा सकता है—कहा जाता है—कि नाटक को उसकी दृश्यता से अलग करना समीचीन नहीं है, जैसा कि 'अनुकरण' शब्द के तात्पर्य से भी स्पष्ट है। यह आपत्ति, एक प्रकार से, यथार्थ है। हम इसके सम्बन्ध में बाद में विचार करेंगे।

कथोपकथन, नृत्य और संगीत नाटक के मूलतत्व समझे जाते हैं। कहा जाता है, इन्हीं तीन तत्वों ने मिलकर नाटक के रूप को जन्म दिया है। इस सिद्धान्त के आधार विद्वानों ने स्थिर किया है कि नाटक का बीज तत्वों के रूप में हमारे वैदिक साहित्य में मौजूद था। अनुकरण तो, वास्तव में, एक ... है। जब मनुष्य के भीतर अनुकरण की ... जागरित होती है तो वह इन तत्वों की सहायता से नाटक ... अभिनय करता है। तथापि, देखने में आता है कि संस्कृत ...कों में संगीत, का एक प्रकार से, सर्वथा अभाव है। हाँ, ... संबन्ध में नाट्याचार्यों ने शास्त्रार्थ किया है। परन्तु नाटकों में हम नृत्य के भी विशेष चिह्न नहीं पाते।

नाटक के मौल मूल तत्त्व—कथोपकथन, नृत्य और संगीत

इसके अनन्तर नाटक के दश विभेदों का वर्णन है। उनके नाम हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग। वस्तु (विषय या कथानक), नेता (नायक) और रस के भेद से ये विभेद उत्पन्न होते हैं। इन दश विभेदों में सब से प्रधान और आदर्श नाटक ही है।

दशविध नाटक

भारतीय नाट्यशास्त्र में वस्तु, नेता और रस तीनों की समान रूप से मुख्यता है। तथापि, देखने से मालूम होगा कि नेता और रस वस्तु के ही आश्रित हैं। उपयुक्त वस्तु होने से उपयुक्त नेता और रस उसे अलङ्कृत कर सकते हैं, परन्तु वस्तु ठीक न होने से नेता और रस का साधु प्रयोग निरर्थक है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नेता और रस का कोई महत्व ही नहीं है। नेता और रस की असाधुता भी एक सुन्दर वस्तु को नष्ट कर सकती है। परन्तु नेता और रस से विहीन भी नाटक लिखा जा सकता है—हाँ, वह दूषित होगा। वस्तु के बिना नाटक की रचना ही नहीं हो सकती।

नाटक के तीन प्रधान अंग—वस्तु, नेता और रस

वस्तु की प्रधानता का एक कारण और भी है। वस्तु के ऊपर ही नाटक की योजना निर्भर रहती है और उसी के आधार पर नाटक की अंतरंग विवेचना की जा सकती है। हमारे नाट्याचार्यों ने इस बात को स्पष्ट स्वीकार नहीं किया है; परन्तु, संभवतः, वह इस बात को समझते थे। दशरूपककार ने शायद इसीलिए, पहले वस्तु की गणना की है और उसके अङ्गों तथा नाटकीय रचना-सिद्धान्तों का विवेचन किया है। तदुपरान्त नेता और रस की विवेचना की गई है। यों कह सकते हैं कि वस्तु एक भवन

या स्थूल शरीर है, रस आत्मा है और नेता शायद वाणी अथवा मन है। आत्मा से युक्त वाणी या वाणी से युक्त आत्मा के लिए वस्तु-मन्दिर अपरिहार्य है।

वस्तु के दो प्रकार-आधिकारिक और प्रासङ्गिक

वस्तु दो प्रकार की है—आधिकारिक और प्रासङ्गिक। आधिकारिक वस्तु (Main piot) वह है जो आरंभ से अन्त तक रहती है। प्रासंगिक वस्तु (Sub piot) प्रसंग-वश बीच-बीच में आधिकारिक की सहायता के लिए आ जाती है। नायक राम की कथा में सुग्रीव की कथा प्रासंगिक है।

प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र

आधिकारिक और प्रासंगिक, दोनों प्रकार की वस्तु प्रख्यात (legendry) हो सकती है, अथवा उत्पाद्य (imaginary), या मिश्र (mixed)। परन्तु देखने में आता है कि संस्कृत में नाटक के लिए प्रायः प्रख्यात और मिश्र वस्तुओं का ही आश्रय लिया गया है। 'शकुन्तला' की वस्तु प्रख्यात है, यद्यपि उसमें मिश्र का तत्व भी वर्तमान है। 'उत्तर रामचरित' की वस्तु मिश्र है। 'मालती माधव' उत्पाद्य है।

यथार्थ में, एकान्त प्रख्यात वस्तु का नाटकों में मिलना कठिन है। नाटककार इतिहास, जनश्रुति अथवा पुराणों के कथानक को लेकर कवि की हैसियत से पुनः उन्हें उपस्थित करता है, ऐतिहासिक लेखक की भाँति नहीं। वह अपनी कल्पना को, अपनी उड़ान को बलपूर्वक दबा कर अपने ऊपर अत्याचार क्यों करेगा? यह स्वाभाविक ही है। अतएव, प्रसिद्ध गाथाओं को काव्य के रूप में उपस्थित करके वह उनके अनेक छोटे-मोटे और सत्कर्म के लि

रनावश्यक प्रसंगों को निकाल या बदल देता है, अथवा कुछ नए।
संग अपनी कल्पना द्वारा उनमें जोड़ देता है।

अपनी वस्तु का निर्धारण कर नाट्यकार नाटक के लिए उसका
कैस प्रकार संस्कार करे, इसके सम्बन्ध में हमारे आचार्यों ने बड़ी
विशद और वैज्ञानिक विवेचना की है। नाट्यकार जब किसी वस्तु को पसन्द करता है तो वह यह भी जानता है कि वह उसमें किस बात को

वस्तु-योजना—पाँच अर्थप्रकृति

प्रधान रूप से दिखलाना चाहता है। मान लीजिए, आप रामचरित
के उत्तरभागको अपने नाटक का आधार बनाना चाहते हैं। तब
आप यह भी निर्णय कर लेते हैं कि इस उत्तरचरित में राम और
सीता का मिलन विशेष रूप से आकर्षक है और इसीको परिणाम-
रूप में सिद्ध करना आप के नाटक का उद्देश्य होना चाहिए।
उपाय वस्तु में कभी कभी ऐसा भी होता है कि इस परिणाम का
निर्णय होने के बाद वस्तु का निर्णय होता है। आप दो प्रेमियों
को आपस में मिलाना चाहते हैं और इस उद्देश्य से एक उपयुक्त
वस्तु की कल्पना करते हैं। वस्तु के इस परिणामरूप उद्देश्य को
नाट्य परिभाषा में 'कार्य' कहते हैं।

'कार्य' का निर्धारण हो जाने पर उसके बीजारोपण की
आवश्यकता प्रतीत होती है। अतएव, दो प्रेमियों को मिलाने
के लिए आप शायद उनके प्रेमोदय की कल्पना करते हैं,
क्योंकि प्रेम होने पर ही दोनों में मिलने की लालसा
उत्पन्न हो सकती है। परन्तु इसका कोई नियम नहीं है कि आप
अपने 'कार्य' का बीजारोपण किस स्थान पर करते हैं। कुछ कवि
प्रेम की उदयावस्था का दिखाना अनावश्यक समझकर उस समय
बीजारोपण कर सकते हैं जहाँ पारस्परिक मिलन की कामना

को विशेष उत्तेजना मिलती है। रावण-वध के उपरान्त सीता-राम-मिलन दिखाने के लिए जनक-वाटिका में बीज को ढूँढ़ना निरर्थक होगा। बीजारोपकी भूमि भिन्नभिन्न वस्तुओंकी विचित्रता और कवि के दृष्टिकोण पर निर्भर है। परन्तु बीज का होना आवश्यक है। परिभाषा में इसको 'बीज' ही कहते हैं।

५ 'बीज' और 'कार्य' वस्तु की दो सीमाएँ हैं। इनके बीच की अवस्थाओं में संघर्ष रहता है। माली बीज बो देता है और वृक्ष हो जाने पर अन्त में उसका फल खाता-खिलाता है। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं के बीच में उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है, कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। कभी पाला गिरता है, कभी बाढ़ आ जाती है, कभी खेत में आग लग जाती है, और कभी बकरियाँ आकर खेत को खा जाती हैं। इन परिस्थितियों में कभी उसको आशा होती है, कभी निराशा और कभी फिर आशा। मध्य की ये अवस्थाएँ तीन हैं—बिन्दु, पताका और प्रकरी। 'बिन्दु' में जो बीज बोया जाता है वह अङ्कुर होकर दिखाई देने लगता है। 'पताका' और 'प्रकरी' मुख्य कथा के भीतर आई हुई प्रासंगिक कथाओं को कहते हैं। 'पताका' बड़ी कथा होती है और प्रकरी छोटी। रामायण में सुग्रीव और श्रमण की कथा इनके उदाहरण हैं। वस्तुके इन विभागोंको 'अर्थप्रकृति' (Elements of plot) कहते हैं।

इसी प्रकार नाटक की गतिके भी पाँच विभाग किए गए हैं। उनके नाम हैं—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम। ये 'अवस्था' (Stages of Action) कहलाते हैं। इनमें 'फलागम' अवस्था 'कार्य' की समान्तर है। परन्तु शेष चार अवस्थाओं के लिए

कार्यगत गति की पाँच अवस्थाएँ

पार प्रकृतियों का समान्तर होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, बीज का आरोप तो प्रेमोदय के प्रथम आभास में ही हो सकता है परन्तु आरम्भ मिलन-लालसा में दृष्टिगोचर होता है।

ऊपर की समीक्षा से यह सहज में अनुमान किया जा सकता है कि पाँच अर्थप्रकृति और पाँच अवस्थाएँ नाटकीय गति के भिन्न भिन्न परिवर्तनों में उदय होती हैं। अतएव, जहाँ नाटक की गति अपनी एक मर्यादा की सीमा को पहुँच कर दूसरी ओर मुड़ती है वहाँ संधि होती है। नाटकीय गति में पाँच परिवर्तन होने के कारण पाँच संधियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और उपसंहृति या निर्वहण। जहाँ बीजारोपण होता है वहाँ 'मुख' संधि होती। जहाँ बीज का अंकुर रूप में प्रथम दर्शन होता है वहाँ 'प्रतिमुख'। 'गर्भ' में परिस्थितियों का अधिक विकास हो जाता है। अंकुर बढ़कर वृक्ष बनने की तैयारी करने लगता है। नेता और उसके सहायक फल की प्राप्त्याशा में पूर्ण उद्योग के साथ उसकी ओर दौड़ते दिखाई देते हैं। परन्तु इतने ही में 'अवमर्श' ने भयानक बाधाएँ उपस्थित करके निराशा उत्पन्न करदी। फल आँख से ओझल हो गया। किन्तु अन्त में समस्त बाधाएँ दूर हो जाती हैं और 'उपसंहार' में फल हस्तगत हो जाता है।

पञ्चसंधियाँ

'शकुन्तला' नाटक में, शकुन्तला-दुष्यन्त के प्रथम दर्शन में ही पारस्परिक प्रेम का उदय हो जाना 'मुख' संधि का आरम्भ है जो द्वितीय अंक के प्रारम्भ तक चलती है। इसके अनन्तर इस प्रेम का विस्तार होता है और तृतीय अंक के अन्त तक दोनों प्रेमी एक दूसरे से मिल लेते हैं। यहाँ 'प्रतिमुख' संधि समाप्त होती है। चतुर्थ अंक में 'गर्भ' संधि है, जब शकुंतला अपने पति-

गृह के लिए प्रस्थान करती है और फल प्राप्य सा मालूम होता है। पाँचवें अंक में दुष्यन्त का अज्ञेय कारणों से उदास रहना और शकुन्तला को न पहचानना 'अवमर्श' का सूचक है। यदि हम दुष्यन्त को नायक मान कर यह स्वीकार करें कि शकुन्तला के सुख-दुख का वह भी सहभोगी है तो 'अवमर्श' सन्धि छठे अंक के अन्त तक चलती है। यदि शकुन्तला एकान्त नायिका है और हमारी अधिकांश सहानुभूति उसी के साथ है और यदि दुष्यन्त फल का ही एक रूप है, तो हम इस संधि का अन्त वहीं समझेंगे जहाँ शकुन्तला पूर्णरूप से तिरस्कृत कर दी जाती है। जो हो, यह प्रश्न विवादग्रस्त है, क्योंकि संस्कृत-शास्त्र शायद नायक-विहीन नाटक को न स्वीकार करे। नायक और नायिका एक ही सत्ता या स्थिति के दो परस्पर-सवादी अंग हैं। परन्तु, इतना अवश्य कहा जाएगा कि नाटक में हमारी लगभग समस्त सहानुभूति शकुन्तला के लिए ही रहती है, और जहाँ दुष्यन्त के प्रति हमारा कुछ आकर्षण होता है वहाँ भी परिच्छन्न रूप से हमारी संवेदना शकुन्तला के लिए ही उत्तेजित होती रहती है। अस्तु। इसके बाद सातवें अङ्क में तमाम बाधाएँ दूर हो जाती हैं और वहीं नाटक का उपसंहार होता है।

कथावस्तु के संबन्ध में एक दो बातें और भी जानने की हैं। किसी न किसी रूप की फलप्राप्ति ही प्रत्येक नाटक का 'कार्य' होने के कारण दुःखान्त नाटकों की सत्ता भारतीय साहित्य में नहीं है। इसके अतिरिक्त 'मृत्यु' आदि अनेक बातें ऐसी भी हैं जिनका रंगमंच पर दिखाना वर्जित है, यद्यपि उरुभंग, नागानन्द आदि कुछ इने-गिने नाटकों में इन निषेधों पर ध्यान नहीं दिया गया है। निषिद्ध बातों में अधिकतर वही बातें हैं जो प्रायः ग्लानि या जुगुप्सा के भाव

नाट्यवस्तु के निषिद्ध प्रसंग

पैदा करने वाली है अथवा जो व्यर्थ क्लान्तिकर है और इस प्रकार रस-परिपाक में बाधक होती हैं। अतएव विवाह, भोजन, स्नान उबटन आदि का भी निषेध है।

नाटककार केवल कथोपकथन द्वारा अपनी कथा प्रस्तुत करता है। वर्णन द्वारा परिस्थितियों और घटनाओं पर टीका-टिप्पणी करने अथवा समझाने का उसे अधिकार नहीं है। साथ ही उसकी नाट्यवस्तु के लिए अधिक विस्तार घातक है। नाटक उतना ही बड़ा होना चाहिए जितना उचित अवधिके भीतर रंगमंच पर खेला जा सके। अतएव, नाटककार को बहुत सी ऐसी बातें छोड़ देनी पड़ती हैं जो दर्शकों या पाठकों की दृष्टि से मनोरञ्जक नहीं होतीं, यद्यपि उनका कथाप्रसार में यथेष्ट भाग रहता है। फिर, निषिद्ध बातें भी दिखाई नहीं जा सकतीं। परन्तु जीवन में उनका महत्व रहता है। किसी कथापात्र की मृत्यु कथा की समस्त भावी गति को ही बदल सकती है। ऐसी बातोंको दर्शकोंसे छिपाया नहीं जा सकता। उनकी सूचना देने के लिए नाटककार के पास दो प्रधान उपाय हैं—

विष्कम्भक और प्रवेशक

'विष्कम्भक' और 'प्रवेशक'। विष्कम्भकका प्रयोग अंक के प्रारंभ में होता है। इसमें सामान्य या निम्नस्थिति के एक या दो पात्र गत या आने वाले कथांशों की सूचना स्वगत या पारस्परिक बातचीत द्वारा देते हैं। प्रवेशक का प्रयोग नाटक के आरंभ में नहीं किया जाता और इसके पात्र निम्नश्रेणी के होते हैं जो प्राकृत या ग्रामीण भाषा में बोलते हैं। शकुन्तला नाटक में तृतीय अंक के पहले विष्कंभक आया है और छठे अंक के पहले प्रवेशक।

वस्तु के पश्चात् कथानायक और रस का विचार उपस्थित होता है। नायक का लक्षण है कि वह 'विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष,

नेता

प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढवंश, स्थिर, युवा, बुद्धि-उत्साह-स्मृति-प्रज्ञा-कला-मान से युक्त, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रचक्षु और धार्मिक होना चाहिए। वह चार प्रकार का होता है—धीरललित, धीरशान्त, धीरोदात्त और धीरोद्धत। ललित नायक कलानुरागी निश्चिन्त, सुखान्वेषी और कोमल स्वभाव वाला होता है। शान्त नायक विनयादि गुणों से उपेत ब्राह्मण या वैश्य कुलोत्पन्न होता है। उदात्त नायक बलशाली, गंभीर, दृढ़चित्तवाला, क्षमाशील और अभिमान से रहित होना चाहिए। उद्धत के लक्षण दर्प, मात्सर्य, छल-कपट, विकत्थना आदि हैं। किसी नाटक का प्रधान नेता इन्हीं चार श्रेणियोंमें से कोई होना चाहिए। भिन्न भिन्न प्रकारके नाटकों और नाट्य विषयोंके लिए एक या दूसरे प्रकारके नायकका विधान है। नायक का सखा पीठमर्द, विट या विदूषक होताहै। नायकका प्रतिद्वन्द्वी प्रतिनायक कहलाताहै जो विविध दुर्गुणों से भरा रहताहै। नायक के साथ साथ नायिका के भी अनेक भेद-उपभेद माने गए हैं। इनमें प्रथम और प्रधान-'स्वकीया', 'परकीया' और 'सामान्या' का है। नायक की भाँति नायिका की भी सहायक-नायिकाएँ होती हैं। शास्त्र में नायक-नायिका के गुणों के सम्बन्ध में बड़ा लम्बा चौड़ा शास्त्रार्थ किया गया है जो यथार्थ में मनोविज्ञान के आधार पर है। परन्तु अपने अतिविस्तार के कारण वह परम श्रमावह हो गया है।

रस

वस्तु और नायक साधन हैं। रस उद्देश्य है। वह काव्य की आत्मा है। आत्मा रूप में प्रत्येक प्रकार के काव्य में इसकी मुख्यता सर्वमान्य है। अनिवार्य आधाररूप से, हम ने कहा है, वस्तु की प्रधानता है। परन्तु रस-विहीन वस्तु शोभाकर नहीं हो सकती, जिस

प्रकार उद्देश्य-विहीन कर्म। इसी से रस के संबन्ध में, उसके उद्भव आदि के प्रश्न को उठाकर आचार्यों ने बड़ी बड़ी दार्शनिक मीमांसाएँ की हैं।

रस क्या है?—काव्य की जिस असाधारण सामर्थ्य द्वारा हमको लोकोत्तर आनन्द मिले और हम काव्य के रसास्वादन में, अन्य समस्त बातोंको इतना भूल जाएँ कि अपने को भी भूल जाएँ, वही रस है। इस रस की सामग्री काव्य में रहती है और उसकी अनुभूति का आधार हमारे हृदय के भीतर। हमारा हृदय भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले भिन्न भिन्न भावों का आगार है। इन में से प्रमुख नौ स्थायी भावों के आधार पर काव्य ने नौ रस माने हैं। स्थायी भाव की व्याख्या करते हुए दशरूपकार ने कहा है—'विरुद्ध अथवा अविरुद्ध अन्य भावों से जिस में विच्छेद नहीं होता, बल्कि जो स्वयं अन्य भावों को समुद्र की तरह अपने में मिला लेता है वही स्थायी भाव है'। इन नौ स्थायी भावों से जिन नौ रसों की उत्पत्ति होतीहै, वे हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। एक नाटक में एक ही स्थायी भाव और उसके अनुकूल एक ही प्रधान रस होना चाहिए। नौ रसों में से कुछ परस्पर-विरोधी भी हैं और उनका एक साथ समावेश किया जाना उचित नहीं है। कभी यदि कवि के प्रौढ़ोक्ति-समाश्रय से दो विरोधी भाव आ भी जाएँ तो कवि को चाहिए कि उनके विरोध को छिपा दे—दोनों के बीच में, कोई उभयानुकूल रस लाकर अथवा अन्य किसी प्रकार से। यथार्थ में, स्थायी भाव एक ही होता है—शेष सब कुछ अधीन रूप से उसकी सहायता के लिए प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार वस्तु नेता और रस की सहयोगिता तथा पारस्परिक

अनुकूलता मे नाटक की रचना होती है। परन्तु नाटक को मानवा अवस्थाओं का अनुकरण माना गया है, जिसमें

पूर्वरंग-प्रस्तावना दृश्यता की भावना को नहीं भूला गया है। अन यथार्थ नाटक आरम्भ होने से पहले रंगमंच का जलपुष्प आदि से संस्कार होता था, साजिन्दे आकर अपना 'हाथ बैठाते' थे और नान्दी-पाठ होता था। तदनन्तर सूत्रधार देवता, ब्राह्मण या राजा की स्तुति में कुछ पढ़ता था और विदूषक तथा पारिपार्श्विक से कुछ बात चीत करता था। इसके पश्चात् स्थापक आकर अपनी स्त्री, पारिपार्श्विक आदि से कुछ बात चीत करता हुआ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से नाटक और नाटककार का परिचय देता था। नाटक के इस परिचय को 'प्रस्तावना' कहते थे और उसके बाद नाटक का आरंभ होता था।

इतने तमाम प्रबन्ध का नाटककार से कुछ संबन्ध नहीं था। अतएव, नाटककार अपने नाटकों में इसकी कोई चर्चा नहीं करते थे। तथापि संस्कृत नाटकों में नान्दी के बाद प्रस्तावना दी रहती है। कुछ नाटककार नान्दी भी दे देते हैं, परन्तु अधिकांश 'नांद्यन्ते सूत्रधारः' का संकेत देकर प्रस्तावना आरम्भ कर देते हैं। नाटकों में से स्थापक का अस्तित्व भी दूर हो गया है और प्रस्तावना का काम सूत्रधार ही कर लेता है। वह कहीं बाहर से आकर घर के भीतर उत्सव आदि की तरह तरह की तैयारियाँ देखता है और स्त्री से उनका रहस्य पूछता है। स्त्री बतलाती है कि अमुक कवि का अमुक नाटक खेलाजाने वाला है। इसके बाद प्रकृत नाटक का अभिनय आरम्भ होता है।

पाश्चात्य -

पाश्चात्य नाटक और नाट्यकला का उद्गम यूनान में हुआ

है। यूनानी तथा पश्चिमीय नाट्यशास्त्र की सबसे पुरानी पुस्तक जो उपलब्ध है वह अरस्तू (Aristotle) के 'पोयटिक्स' (Poetics) है। अरस्तू ने नाटक के दो विभाग किए हैं—'ट्रैजेडी' (Tragedy) और 'कमेडी' (Comedy)। इन दोनों का अभिप्राय आजकल दुःखान्त और सुखान्त नाटक समझा जाता है। परन्तु अरस्तू के समय में इनकी भावना ठीक दुखान्त और सुखान्त की नहीं थी। उसकी व्याप्ति अब से कुछ अधिक थी। अरस्तू के अनुसार, जिन मनुष्यों के कर्मों का अनुकरण किया जाता है वे सामान्य जीवन के मनुष्यों से या तो ऊँचे होने चाहिएँ या नीचे। यह विकल्प ही सिद्धान्तरूप से ट्रैजेडी और कमेडी का विभेदक है। ट्रैजेडी में हम, ऊँचे आदर्श का अनुकरण करते हैं, कमेडी में निम्न का। प्रारम्भिक काल में, हम एक में देवी-देवताओं और महापुरुषों की कीर्ति गाते हैं और दूसरे में क्षुद्र तथा कुत्सित मनुष्यों पर व्यंग्य करते हैं। बाद में होमर के समय से कमेडी में हास्य का तत्व भी सम्मिलित हो गया जिससे लोगों की आकार या व्यवहार की असामान्य विरूपताओं को अतिरञ्जित करके मजाक बनाया जाने लगा। पश्चिमी कमेडियों में आजकल भी, एकान्त हास्य तो नहीं, परन्तु हास-परिणाम की मात्रा यथेष्ट रहती है। हास्य-प्रधान या व्यंग्य-प्रधान नाटकों के वर्ग ही अलग है। हिन्दी में अभी तक एकमात्र सुखान्तता ही कमेडी का चिन्ह समझा जाता है, यद्यपि कामिक (Comic) का अर्थ लोग दूसरा मानते हैं।

यूनानी कला

ट्रैजेडी और कमेडी

सबसे पहले ट्रैजेडी और कमेडी, दोनों में, एक व्यक्ति केवल कुछ गीत या कवित्त पढ़ा करता था। बाद में एक और पात्र की योजना की गई और कथोपकथन

ट्रैजेडी-कमेडी का आरंभ

पर ज़ोर दिया गया। पुन बाद में, सोफ़ोक्लिज़ ने पात्रों की संख्या तीन कर दी और अनुकरण-कार्य में दृश्य-चित्र का भी समावेश किया। कुछ और बाद, छोटी कथावस्तु के स्थान पर बड़ी कथा-वस्तु की स्थापना हुई और नाटक के अंकों की संख्या बढ़ाई गई। अरस्तू के समय तक नाटक इस विकास को पहुँच चुका था।

ट्रैजेडी और कमेडी में ट्रैजेडी श्रेष्ठ प्रकार की रचना है

ट्रैजेडी की परिभाषा

ट्रैजेडी एक ऐसी घटनावली का कार्य-रूप में अनुकरण है-वर्णनरूप में नहीं-जो गंभीर हो, पूर्ण हो, जिसका कुछ विशिष्ट आकार हो, जिसकी भाषा कला की दृष्टि से सब प्रकार से अलंकृत हो, और जो भय और करुणा के द्वारा इन भावों का उचित उद्रेक (कराने) में समर्थ हो*

*"Tragedy, then, is an imitation of an action that is serious, complete and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play, in the form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper purgation of these emotions. By 'language embellished' I mean language into which rhythm, harmony and song enter. By 'the several kinds in several parts' I mean, that some parts are rendered through the medium of verse, others again with the aid of song."—The Poetics of Aristotle, Butcher's Translation, p. 23.

भाषा के अलंकारों में लय, माधुर्य और गीत की गणना है। ये भिन्न भिन्न अलंकार नाट्य वस्तु के भिन्न भिन्न स्थलों में दिखाए जाने चाहिएँ।

ट्रेजेडी के छै तत्त्व

अरस्तू ने नाटक के छै तत्व बतलाए हैं-कथावस्तु, चरित्र, भाषा, विचार, दृश्य और गीत। इनमें प्लॉट को उसने सब से अधिक महत्व का माना है और ट्रेजेडी की आत्मा कहा है, क्योंकि हम अनुकरण मनुष्यों के कृत्यों का ही करते हैं और इन्हीं कृत्यों के आधार पर प्लॉट बनता है। प्लॉट के बाद महत्त्वक्रम में चरित्र आता है, तब क्रमश विचार, भाषा, गीत और दृश्य। दृश्य को सब के बाद में इस लिए रक्खा गया है कि उसका कवि-कला से कोई संबन्ध नहीं है।

प्लाट के तीन अंग—प्लाट का परिणाम और अभिज्ञान

आदि, मध्य और अवसान-ये प्लॉट के तीन अंग हैं। प्लॉट दो प्रकार का है। शुद्ध (Simple) और संकीर्ण (Complex) शुद्ध प्लॉट में नायकके भाग्य या परिणाम के विपर्यय का कोई परिवर्तन किसी आकस्मिक या असंभावित घटना के कारण नहीं होता। संकीर्ण में होता है। आकस्मिक परिवर्तन या तो घटनाओं की सहसा विपरीत गति (Reversal) के कारण होता है, या दो पात्रों के सहसा एक दूसरे को पहचान लेने पर (Recognition। एक व्यक्ति ने किसी दूसरे को मारने के लिए तलवार उठाई ही थी कि उसे तुरन्त किसी प्रकार मालूम हुआ कि जिस व्यक्ति को वह मारने जा रहा है वह उसका पुत्र है। यही Recognition या अभिज्ञान है। 'उत्तररामचरित' में लव और कुश को देख कर रामचन्द्र के मन में कुछ भाव उत्पन्न होते हैं जिससे उनका हृदय दोनों बालकों की ओर स्वतः खिंचने लगता है। बाद में उन्हें मालूम होता है कि दोनों बालक उनके पुत्र हैं। लव-कुश भी अपने

पिता को जान लेते हैं। इस प्रकार एक भयंकर, अनर्थकारी युद्ध रुक जाता है। वैपरीत्य और अभिज्ञान में कोई प्लॉट की अन्तरङ्ग अवस्थाएँ हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक ट्रैजेडी में 'वेदना का दृश्य' (Scene of suffering) रहना आवश्यक है। वेदना के दृश्य में कोई सांघातिक घटना दिखाई जाती है, जैसे मृत्यु, शारीरिक कष्ट, या घाव आदि।

वेदना का दृश्य

वस्तु-विन्यास के चार तत्त्व हैं—प्रस्तावना Prologue), उपसंहार (Exode), अंक (Episode) और ध्रुवक (Choric song)। प्रोलोग भारतीय नाटक की प्रस्तावना के समान होता था और वस्तु-प्रारंभ के ध्रुवक के पहले आता था। एक्सोड ट्रैजेडी के उस समग्र भाग को कहते थे जिसके बाद में कोई ध्रुवक नहीं होता था। एपिसोड, दो ध्रुवकों के बीच का अंश होता था। इससे यह मालूम होता है कि अंतिम अंक या उपसंहारको छोड़ कर प्रत्येक अंक के आरंभ और अन्त में ध्रुवक रहता था और ध्रुवकों की संख्या सेज के बीच में यथेष्ट रहती थी। नाटक में कोरस की इस प्रधानता को समझाते हुए मैथ्यू आर्नल्ड ने लिखा है—

वस्तु विन्यास के चार तत्त्व

'घटनाओं की प्रत्येक परिस्थिति के बाद, विचारशील दर्शकों के मन पर उन घटनाओं द्वारा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होने वाले संस्कारों को समाहृत और संगठित करना ध्रुवक का काम था। अन्ततः, वह नाटक के अन्त में समग्र वस्तु के निश्चय और प्रभाव की आलोचना करता था। दर्शकों के मन में ट्रैजेडी के क्रमागत प्रवाह से उत्पन्न हुए प्रभाव को यदि गतांश की स्मृति या आगन्तुकांश के संकेत से पुष्ट किया जा सकता था तो उसको पुष्ट करना 'आदर्श दर्शक'*

ध्रुवक

*कोरस के गायकगण का वस्तु-अभिनय से कोई सम्बन्ध नहीं

का अधिकार था। दर्शकके भावों का संसर्ग करना, उनमें अनुरूपता लाना, उन्हें अधिक तीव्र बनाना—यही यूनानी ट्रैजेडी के प्रवक्ता का सब से मुख्य प्रयोजन है।†

होता था अत वे अभिनय के पात्रों से भिन्न रहते थे। इसी से आर्नल्ड ने उन्हें दर्शक कहा है।

† "The Chorus was, at each stage of the action, to collect and weigh the impressions which the action would at that stage naturally make on a pious thoughtful mind, and was at last, at the end of the tragedy, when the issue of the action appeared, to strike a final balance. If the feeling with which the actual spectator regarded the course of the tragedy could be deepened by reminding him of what was past, or by indicating to him what was to come, it was the province of the ideal spectator so to deepen it To continue, to harmonise, to deepen for the spectator the feelings excited in him by the sight of what was passing on the stage—this is the one grand effect produced by the Chorus in Greek tragedy" .—Mathew Arnold in his preface to *Merope*.

ध्रुवक के इस उद्देश्य को देखते हुए यह अनुमान होता है कि स्वभाव में विष्कम्भक और ध्रुवक, दोनों कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे। दोनों गत और आगन्तुक घटनाओं की सूचना देते थे और दोनों का प्रयोग अंक के आरम्भ में किया जाता था। भेद शायद इतना था कि विष्कम्भक तो घटनाओं का स्वाभाविक सम्बन्ध बनाए रखने के लिए केवल उन बातों की सूचनामात्र दे देता था जो अभिनय के भीतर नहीं दिखाई जाती थीं और ध्रुवक अभिनीत या अभिनेय कथांशों का निरूपण कर दर्शकों की भाव-परम्परा को अधिक उत्तेजित करने के लिए प्रयुक्त होता था। साथ ही एक भेद यह भी था कि ध्रुवक के गायकगण 'आदर्श दर्शक' होते थे, परन्तु विष्कम्भक के वक्ता नाटकीय पात्रों में ही समझे जाते थे।

ग्रीक ट्रैजेडी के रचना-नियमों में जो सब से मुख्य बात है उसका ज़िक्र अभी नहीं हुआ है। वह है तीन समक (Unities) का सिद्धान्त। यूनानी ट्रैजेडी समय, स्थान और वस्तु के समक को मानती है। नाटकीय वस्तु की आधारभूत घटनाएँ यथार्थ जीवन में चौबीस घंटे से अधिक की न होनी चाहिएँ; वे सब एक ही स्थान में होनी चाहिएँ, जिस से दृश्य-परिवर्त्तनों की आवश्यकता न पड़े; और नाटक की कथावस्तु (Plot) एक ही होनी चाहिए, अर्थात् एक नाटकीय वस्तु में अन्य उपवस्तु आदि न हों—यही इन तीन समकों का तात्पर्य है। प्रारम्भिक ग्रीक अभिनय की असुविधाएँ ही इस समक-विधान का मूल कारण हैं।

समक-सिद्धान्त

वर्तमान पाश्चात्य नाटक और ग्रीक ट्रैजेडी के मूल सिद्धान्त

में सहानुभूति की बहुत कमी है। यूरोप के 'रेस्टोरेशन' (Restoration) और 'रिनैसेन्स' (Renaissance) काल के भीतर वहाँ की साहित्य-कला में बड़े बड़े परिवर्तन हो गए। इस से पहले इटली आदि के नाटकों में यूनानी आदर्शों की आत्मा बहुत-कुछ अंशों में मौजूद थी। धीरे धीरे साहित्य में कल्पना और वैचित्र्य (Romance) की मात्रा बढ़ने लगी। इंग्लैण्ड में एलिज़बेथ के काल में यह प्रवृत्ति अपनी चरमता को प्राप्त हुई और शेक्सपियर उसका प्रधान पथ-प्रदर्शक था। समय और स्थान के समक्र छिन्न-भिन्न हो गए, कार्य-समक्र में भी संकुलता आ गई। ट्रैजेडी और कमेडी के विभेदक भावों में परिवर्तन हो गया। दोनों के अंशों को मिलाकर जो संकर-रचनाएँ हुईं उनका नाम 'ट्रैजि-कमेडी' पड़ा। कमेडी की हास्य और उपहास की भावना को अलग हटा कर कमेडी हर्षप्रधान नाटक का रूप रह गई और हास्योत्पादक नाटकों की प्रहसन आदि (farce, pantomime etc.) अलग अलग अनेक श्रेणियाँ बन गईं। साथ ही ट्रैजेडी की वेदनापूर्ण गंभीरता को कम और कमेडी की विनोदशीलता को अधिक करने के लिए इन दोनों प्रकार की रचनाओं में मुख्य वस्तु के अंगीभूत प्रहसनात्मक प्रसंगों (Comic) का भी समावेश करने की प्रणाली पड़ गई। कोरस का पूर्ण अस्त हो गया।

वर्तमान पाश्चात्य नाटक

वर्तमान समय में पश्चिमीय नाटक की गति और भी बंधनमुक्त हो गई है। प्राचीन रचना-नियमों के बंधन को तोड़ कर वह एकदम स्वतंत्र बन गई है। एलिज़बेथ-काल के रोमैन्टिक नाटक में वस्तु-विकास की प्रायः पाँच या छः अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। आजकल के अधिकांश नाटकों में, यदि देखा जाए तो, तीन ही रह गई हैं। वर्तमान नाटककार अपनी वस्तु का आरम्भ प्राय

उस स्थान से करते हैं जहाँ रोमैन्टिक नाट्यकारों का मध्य रहा करता था। प्रारम्भ की अवस्थाओं को छोड़ कर वे अपनी वस्तु को विकसित रूप में लेते हैं और संघर्ष के स्थल से आरम्भ करते हैं। अधिकतर आजकल की वस्तुओं का कोई विशेष या जटिल कथानक भी नहीं होता। वहाँ, सामान्य जीवन की दैनिक घटनाओं को लेकर एक वस्तु तैयार हो जाती है और उस की नींव पर एक उच्च श्रेणी का नाटक खड़ा हो जाता है। हम लोग अकसर उन कलाकारों की प्रशंसा किया करते हैं जो 'कुछ नहीं में सब कुछ' बना कर दिखा देते हैं ('Make anything out of nothing')। इसका एक रहस्य शायद यह है कि आजकल लेखकों का ध्यान सामाजिक प्रश्नों की ओर विशेष रूप से जाता है और वर्तमान समय 'Art for Art's sake'—कला के लिए कला—के विवाद का युग होने पर भी लेखकगण सामयिक जीवन की जटिलताओं से आकर्षित हुए बिना नहीं रह पाते। सामाजिक या गार्हस्थ्य जीवन की किसी एक विचित्रता को लेकर उसका तत्काल और गहरा प्रभाव डालने के लिए वे वस्तु की जटिलता के झंझट में नहीं पड़ते और वस्तु-विकास की परिचायक प्रारम्भिक अवस्थाओं को छोड़ देते हैं। पुराने साहित्य में जिस प्रकार भिन्न भिन्न भावों के परिपाक द्वारा पाठकों पर प्रभाव डाला जाता था उस प्रकार आजकल नहीं होता। आजकल वही प्रभाव विनोद (humour) या व्यंग्य के द्वारा अथवा मीठी या तीखी चुटकियाँ लेकर किया जाता है। अतएव, हम देखते हैं कि वर्तमान समय में सामाजिक नाटक ही अधिक लिखे जाते हैं। इसमें पहले सामाजिक नाटक बहुत कम लिखे जाते थे। क्या प्राच्य, क्या पाश्चात्य, दोनों ही साहित्यों में प्रख्यात वस्तु की ही अधिकता रहती थी। यूरोपीय साहित्य की वर्तमान प्रगति पर

अमरीकन साहित्य का भी कुछ प्रभाव हो सकता है। क्योंकि, वर्तमान समय में किसी प्राचीन अमरीकन जाति की सत्ता न होने के कारण उनका कोई प्राचीन इतिहास या पुराण भी नहीं है। फिर, नई अमरीका ने जितनी जल्दी अपनी सर्वतोमुखी भौतिक उन्नति की है और अपने जीवन को उसने जितना अधिक व्यस्त और नानारूप बना लिया है उस को देखते हुए सामयिक जीवन की छोटी छोटी घटनाओं की ओर ही उसका ध्यान जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूप और आकार की आवश्यकताओं की ओर वर्तमान नाटक उस ढंग से ध्यान नहीं देता जिस प्रकार प्राचीन कला में दिया जाता था। रूप-मीमांसा में आजकल केवल शैली ही द्रष्टव्य रहती है जो, यथार्थ में, भिन्न भिन्न अवस्थाओं में विषय और लेखक के ऊपर निर्भर रहती है। आजकल की नाट्यकला में भावों और विचारों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है और आलोचना में भी किसी पुस्तक के इन्हीं अंगों को विशेष रूप से देखा जाता है। उत्तरराम-और महावीर-चरितों में सधियों की असावधानता के कारण भवभूति का पण्डित-मण्डली ने बहिष्कार कर दिया था। परन्तु अब कोई ऐसे ऊपरी बंधन-विशेष नहीं हैं जिनके ऊपर ही कलात्मकता का दारमदार हो। अब आलोचक प्रायः यही देखता है कि नाट्यकार ने कैसा विषय लिया है और उसका किस प्रकार प्रतिपादन किया है।

परन्तु, दूसरी ओर, हम देखते हैं कि इतना विच्छेद हो जाने पर भी वर्तमान कला, जानकर या अनजान में, अंशतः ग्रीककला की प्रेरणा को ग्रहण करती जा रही है। जैसा कहा जा चुका है, आजकल कथावस्तु बहुत ही सादी तथा छोटी होती है। अतः उसमें प्रासंगिक कथाओं और उपकथाओं की प्रायः कोई संभावना

नहीं रह जाती। ग्रीक वस्तु यद्यपि बहुत सादी नहीं होती थी, परन्तु उसमें प्रासंगिक कथाओं का अभाव-सा ही रहता था। ग्रीक वस्तु यथा-साध्य इतनी सहिल रहती थी कि उसकी वास्तविक घटना में एक दिन और एक रात से अधिक समय न लगे। वर्तमान समय में भी इब्सेन, वाइल्ड आदि प्रमुख नाटककारों द्वारा कुछ ऐसे नाटक लिखे गए हैं जिनकी वस्तु-घटना प्राय एक दो दिन या इससे कुछ ही अधिक अवधि की होती है। अतएव, कहा जा सकता है कि वर्तमान पाश्चात्य नाटक की एक अपनी ही रीति है जिस में पिछली कला-भावनाओं के कुछ चिह्न इधर-उधर मिल सकते हैं पर जिस में उनके किसी स्पष्ट प्रभाव का अन्वेषण करना अभी ठीक नहीं है।

हिन्दी-नाटक

हिन्दी नाटक का इतिहास कुछ विशेष पुराना नहीं है। सामान्य रूप से, भारतेन्दु के समय में उसका वास्तविक आरम्भ मान लेने में अधिक अनौचित्य न होगा। भारतेन्दु ने मालूम होता है, नाटकीय परिभाषाओं का कुछ अध्ययन किया था। उन्होंने नाटक के ऊपर एक लेख भी लिखा था। हिन्दी में इस विषय का यही पहला लेख है। इस लेख में उन्होंने अपने समय में प्रचलित अन्य नाटकों का भी जिक्र किया है। उनका कहना है कि उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र का लिखा 'नहुष' नाटक हिन्दी का पहला नाटक है।

हिन्दी नाटक का आरम्भ-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को नाटक की प्रधान प्रेरणा बंगीय नाटक से मिली। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने बंगाल की यात्रा की थी। वहाँ उन्होंने बंगला नाटकों का अभिनय देखा और

अंग्रेजों के सम्पर्क से उन्नीयमान बंग-साहित्य का परिचय प्राप्त किया। इन दोनों बातों का उनके भावी साहित्यिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उनका प्रथम नाटक 'विद्यासुन्दर' बँगला का अनुवाद है।

यह विचार करना निस्सार होगा कि बंगीय रंगमञ्च पर उस समय विदेशीय मञ्च का कोई प्रभाव पड़ा था। विदेशीय मञ्च का भारत में अभी तक भी यथार्थ प्रचार नहीं होपाया है। पर उस मञ्च के अनुरूप विदेशी नाटक उस समय तक अच्छी तरह आने लग गए थे। प्राकृतों में नाटक का एकदम अभाव होने के कारण पिछली शताब्दियों के लोग नाट्य-रचना और अभिनय के संस्कृत सिद्धान्तों से एकदम अनभिज्ञ थे। यूरोपीय संस्कृति के आगमन से पूर्व जिस प्रकार का साधारण अभिनय देश में प्रचलित था उसका रूप रासलीला और बंगाल की रथयात्रा आदि में देखने को मिल सकता है। ऐसी परिस्थिति में, अंग्रेजी नाटक के तत्त्व का भरपूर प्रभाव पड़ा हो, यह स्वाभाविक है। विदेशी नाटक आही चुके थे। उनके आधार पर इधर-उधर कुछ बँगला नाटकों का लिखा जाना और नवीन रचनाओं के अनुरूप मञ्च की धीरे धीरे नई संस्कृति होना अकल्पनीय बात नहीं है। गिरीशचन्द्र घोष और द्विजेन्द्र-लाल राय के नाटकों में हम उसी संस्कृति के लगभग पचास वर्ष के विकास का परिणत रूप देखते हैं।

अतएव, यदि भारतेन्दु के लेख में प्राचीन नाट्य-नियमों की जटिलताओं का कोई विरोध हमें दिखाई दे तो आश्चर्य की बात नहीं। हरिश्चन्द्र लिखते हैं :—

"किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण

है, इसमें सम्प्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।

× × ×

"... नाट्य कला कौशल दिखाने को देश, काल और पात्रगण के प्रति विशेषरूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्वकाल में लोकातीत असम्भव कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती।

"अब नाटकादि दृश्यकाव्य में अस्वाभाविक सामग्री-परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य-मंडली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है, इससे अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी' कहीं 'विलोभन' कहीं 'सफेट' 'पंचसंधि' वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है। क्योंकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने प्राचीन नियमों की परतंत्रता को दूर करने की यथेष्ट चेष्टा की थी—व्यवहार ही में नहीं, सिद्धान्त रूपमें भी। 'पुष्पमधि' आदि नाट्यकला-सम्पादनके श्रमकर और अप्रबोध साधन थे। उनसे स्वाभाविकता बिगड़ने का

डर था। साथ ही भारतेन्दु यह भी मानते थे कि 'नाटक आख्यायिका की भाँति श्रव्य काव्य नहीं है।' अत: पञ्चसन्धि, आशी: आदि दर्शकों के लिए दुर्बोध या निरर्थक थे। क्योंकि, अभिनय की शीघ्रता और ललित मनोवेगों के वेगपूर्ण उभार में दर्शक को इन पारिभाषिक अलंकारों का अनुसरण करने के लिए न तो अवकाश ही रहता है और न उनका ध्यान ही होता है। भारतेन्दु के मौलिक नाटकों में हम संधि-नियमों के प्रति कोई प्रयास नहीं पाते। तथापि, मालूम होता है, कुछ अवस्थाओं में यह विरोध नामों की परिभाषा के आगे नहीं बढ़ पाया है क्योंकि 'संफेट' 'विलोभन', आदि पारिभाषिक नाम होते हुए भी वस्तु और चरित्र की उन स्वाभाविक परिस्थितियों के ही द्योतक हैं जिनका एक सफल नाटक में एकान्त निराकरण होना दुःसाध्य है।

परन्तु भारतेन्दु का संस्कृत का भी अध्ययन था। उन्होंने अनेक संस्कृत नाटकों का अनुवाद और संस्कृत नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया था। अतएव, उसका भी कुछ संस्कार उनके मन पर न रहना असंभव था। परन्तु यह संस्कार अंध-संस्कार न था। वह विवेक से परिष्कृत किया हुआ था। भारतेन्दु लिखते हैं — "नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति या पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।" तदनन्तर उन्होंने "संस्कृत नाटकादि रचना के निमित्त महामुनि भरतजी जो सब लिख गए हैं, उनमें जो हिन्दी नाटक-रचना के नितान्त उपयोगी हैं और इस काल के सहृदय सामाजिक लोगों की रुचि के अनुयायी हैं" उन का वर्णन किया है। इन नियमों में अन्यान्य बातों के अतिरिक्त प्रस्तावना और उसके पाँच प्रकार, चतुर्वृत्तियाँ, 'उपक्षेप, प्ररोचना,

विष्कम्भक आदि की भी गणना की गई है। नाटकके दस प्रकारका भी विवेचन है। लेखक ने इन सब की आवश्यकता को युक्तिद्वारा अपने लेख में स्वीकार किया है। उनका अनुवादित नाटक 'विद्यासुन्दर' प्रस्तावना आदि से विहीन है, परन्तु मौलिक नाटकों में उन्होंने अपने परिगणित तत्वों का प्रयोग किया है। नाटक के अतिरिक्त उन्होंने नाटिका भाण, प्रहसन, वीथी भी लिखे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने नाटक में प्राचीन और नवीन रुचियों का सामञ्जस्य स्थापित किया। कुछ तो प्राचीन नाट्य-नियमों से अपरिचित होने के कारण, और कुछ विदेशीय संस्कृति के संसर्ग से, हिन्दी नाटक के प्रारम्भ-काल में ही एक नए नाट्य-धर्म का आविर्भाव हुआ जो प्राचीन शास्त्र की ओर श्रद्धा रखता हुआ भी एक प्रकार की स्वातंत्र्य-भावना को पुष्ट करने लगा। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि यह उत्क्रम वाह्यार्थनिष्ठ (Subjective) ही था, अधिकरणनिष्ठ (Objective) नहीं। अधिकरण की ओर अभी ध्यान ही नहीं गया था। जो वस्तु पहले-पहल हमारे सामने आती है, प्रारम्भ में उसके वाह्य रूप का ही संस्कार हमारे मन पर होता है। इसलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु ने वस्तु के आदर्श के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है और न उन्होंने अपनी नाट्यवस्तुओं में किसी नए आदर्श का अनुसरण ही किया है। केवल अलौकिकता के ऊपर एक आक्षेप करके वह रह गए हैं।

हिन्दी नाटक के इतिहास में भारतेन्दु एक विशिष्ट युग उपस्थित करते हैं जिसका आरम्भ और अन्त उनके साथ ही साथ होता है। उनके बाद चिरकाल तक नाट्य-रचना का

उत्साह लेखकों में अधिक नहीं देखा गया। एकाध लेखक का एकाध नाटक कभी कभी भूले-भटके दृष्टिगोचर होगया तो हो गया। जो थोड़े-बहुत नाटक बाद में देखने में आए, कहा नहीं जा सकता कि वे हिन्दी साहित्यिक सिद्धान्तों के आधार पर लिखे गए थे या केवल रचना-प्रवृत्ति के परितोष के लिए। इनमें भी मौलिक नाटक दो चार ही हैं जो भारतेन्दु-शैली के ढँग पर लिखे गए हैं। लाला सीताराम द्वारा अनुवादित शेक्सपियर के नाटक हिन्दी साहित्य की यथार्थ सम्पत्ति न बन सके। अतएव, उनसे हिन्दी-नाटक-रचना को न तो कोई प्रोत्साहन ही मिला और न वे हिन्दी नाटक के पथ-निर्धारण में कुछ सहायक ही हुए।

भारतेन्दु की मृत्यु सन १८८५ में हुई। यद्यपि उन्होंने अपने समय तक लिखे गए अनेक नाटकों और नाटककार का नामोल्लेख किया है, तथापि हिन्दी नाटक की अवस्था उस समय तक अच्छी नहीं थी। भारतेन्दु ने अपने लेख में भी इस पर खेद प्रकट किया है, और अपने नाटक 'सत्यहरिश्चन्द्र' की प्रस्तावना में भी। उसके बाद तो, बीस-पचीस वर्ष यह अवस्था और भी खेद-जनक रही। 'महाराणा प्रताप' जैसे दो एक ही नाम लेने योग्य मौलिक नाटक लिखे गए जो भारतेन्दु ही की प्रणाली पर थे। हाँ, थियेट्रिकल कम्पनी के लिए लिखे गए नाटकों की संख्या अवश्य अधिक थी।

हिन्दी नाटक पर द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव

भारतेन्दु के बाद हिन्दी नाटक को दूसरी उत्तेजना द्विजेन्द्रलाल राय के प्रादुर्भाव से मिली। इस समय तक बंगाल में बहुत से अच्छे लेखक हो चुके थे और हिन्दी वाले उनकी ओर आकर्षित होकर उनके ग्रन्थों का खू अनुवाद करने लगे थे। द्विजेन्द्र बाबू अपने समय के बंगाल के सर्वश्रेष्ठ नाटककार समझे जाते थे और हिन्दी

के लेखकों तथा प्रकाशकों की अनुवादवृत्ति उनकी कीर्ति से उत्साहित हुए बिना नहीं रह सकती थी। द्विजेन्द्रलाल के नाटकों में भावुकता चरमकोटि तक पहुँची हुई थी—बंगीय साहित्य अधिकतर भावुकताप्रधान ही है—और उन नाटकों ने हिन्दी-जनता के सुप्त मनोवेगों पर सहसा आघात कर उनकी रुचि को एक विशेष रूप से संस्कृत किया। यही कारण है कि राय के नाटकों का प्रचार हो-जाने पर गिरीशचन्द्र घोष, मनमोहन गोस्वामी आदि अन्य श्रेष्ठ परन्तु किञ्चित् मंदतर भावुकता वाले बंगीय नाट्यकारों के नाटक हिन्दी में अधिक लोकप्रिय नहीं हो सके।

द्विजेन्द्र तथा उनके समकालिक नाटककारों के समय में प्राचीन नाट्यपद्धति का आभास भी ढूँढ़ना निराशामात्र था। आधुनिक द्विजेन्द्रकाल की समय के पाश्चात्य नाटकों का प्रवेश ही नहीं, नाट्य-पद्धति सम्यक् अध्ययन भी भारत, विशेषतः बंगाल, में हो चुका था। पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव जिस प्रकार भारतीय जीवन पर पड़ा है उसी प्रकार भारतीय साहित्य पर भी पड़ा है। साहित्य पर तो द्विगुण रूप से—एक तो अनुकरण द्वारा, और दूसरे उस संस्कृति की अधिकांश भावनाओं को अपना बना लेने के कारण अंतरंग संस्कार के रूप में। इसका अनुमान इस बात से अच्छी तरह किया जा सकता है कि आधुनिक काल के इब्सेन, शा, या माइँग के जो नाटक अब से सौ वर्ष पहले तिरस्कार से अनिमान् कर दिए जाते, उनमें अब हमें कला का सर्वोच्च गौरव दिखाई देने लगा है। संस्कृत के ढँग के नाटक अब यदि देशी भाषाओं में लिखे जाएँ तो शायद अधिक पसन्द न किए जाएँगे। हमारी रुचि तथा कलाभावना का परिष्कार, जो आदानक्रम से धीरे धीरे होता रहा है, हमारी साहित्यिक तथा मानसिक सत्ता का एक स्वाभाविक अंग बन गया है। इस परिष्कार का क्रमानुगत विकास

हमको सौ वर्ष के बंग-साहित्य मे खोजने से भली भाँति मिल सकता है।

तथापि, देखने मे ज्ञात होता है कि पश्चिमीय नाटक की चरम नवीनता अभी भारतीय साहित्यमे नहीं आई। इब्सेन, शा आदि के नाटक द्विजेन्द्रलाल के समय में वर्तमान थे परन्तु द्विजेन्द्रलाल में हमको एलिज़बेथ-काल के रोमैन्टिक नाटक की प्रवृत्ति ही प्रधानता के साथ दिखाई देती है। पहले कहा गया है कि रोमैन्टिक नाटक का प्लॉट जटिल होता था और सम्पूर्ण होता था, अर्थात् उसमें अरस्तू की दी हुई, आदि-मध्य-अन्त, तीनों अवस्थाएँ वर्तमान रहती थीं। पश्चिम के अधिकांश आधुनिक नाटक में तो आदि और मध्य का प्रारम्भ प्रायः लुप्त ही रहता है। सम्पूर्ण प्लॉट की दृष्टि से, यह कहा जा सकता है कि, भारतीय और पश्चिमीय सिद्धान्तों में भी कोई भारी भेद नहीं है। भारतीय नाटक 'आरम्भ' से आरम्भ होकर 'प्रयत्न', 'प्राप्त्याशा', और 'नियताप्ति' की अवस्थाओं को पार कर 'फलागम' मे अपना अवसान करता था। पश्चिमीय नाटक मे 'प्रारम्भिक घटना' (Initial Incident, जिसमे 'आरम्भ' या 'बीज' की परिस्थितियाँ सन्निविष्ट रहती हैं), 'विकास' (Rising Action), 'सीमा' (Climax), 'संप्रधारण' या 'निर्वहण' (Denouement) और 'उपसंहार' (Catastrophe) ये पाँच अवस्थाएँ हैं। भारतीय तीन अवस्थाएँ 'यत्न', 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' पाश्चात्य 'विकास', 'सीमा' और 'सम्प्रधारण' की पर्यायवाची अथवा समानान्तर न होते हुए भी समाहाररूप से कार्य-व्यापार के समान परिमाण की परिचायक हैं। यदि प्राच्य

रोमैन्टिक नाटक का प्रभाव।

रोमैन्टिक और प्राचीन भारतीय नाटक की तुलना

कार्य-व्यापार और कथा वस्तु के विभाग

और पाश्चात्य में कुछ भेद पड़ता है तो वह 'फलागम' के कारण। क्योंकि भारतीय नेता जिस फल की इच्छा से कार्य में प्रवृत्त होता था उसकी प्राप्ति उसे होनी ही चाहिए थी—नाटक का अन्त सुख-मूलक होना आवश्यक था। इसी लिए 'फलागम' से पहले की तीन अवस्थाएँ 'यत्न' 'प्राप्त्याशा' और 'नियताप्ति' थीं। पाश्चात्य कला में ऐसा कोई विशिष्ट विधान न होने के कारण उसमें 'प्राप्त्याशा, और 'फलागम' की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। अरस्तू ने बाद की चार अवस्थाओं के अलग अलग नाम न देकर परिणामरूप में उन्हें अपनी ट्रैजेडी की परिभाषा में समाहृत कर दिया है। नामकरण पिछली शताब्दियों के लेखकों की व्यवच्छेदात्मक विन्यास-व्यवस्था का फल है।

परिमाण के अतिरिक्त रीति की दृष्टि से भी दोनों कलाओं में कोई विरोध नहीं मालूम होता। भारतीय सुखान्तता के कारण जो थोड़ा बहुत विरोध दिखाई देता है वह यह देखते हुए दूर हो जाता है कि अरस्तू की ट्रैजेडी के लिए भी यह नितान्त आवश्यक नहीं था कि वह दुखान्त ही हो। जैसा कि हम देख चुके हैं, 'अभिज्ञान' द्वारा एक दुखपूर्ण अन्त सुखपूर्ण बनाया जासकता था। अरस्तू ने तो 'अभिज्ञान' की विवेचना करते हुए यहाँ तक कहा है कि जहाँ एक दुर्घटना अभिज्ञान द्वारा होते होते टल जाती है वही सर्व श्रेष्ठ कल-साधना है।" मानो ट्रैजेडी की परम आवश्यकता

यही है कि उसकी कथावस्तु गंभीर हो और वह भय तथा वेदना के दृश्य द्वारा मनोवेगों को उत्तेजित करने वाली हो। परन्तु, वास्तव में, यह सिद्धान्त ग्रीक ट्रैजेडी की ही संपत्ति नहीं है। हमारा विचार है कि करुण के पुट के बिना कोई भी रस उस प्रभावोत्पादकता नहीं प्राप्त कर सकता और न उसमें सात्विक गंभीरता ही आ सकती है। और, गंभीरता से रहित कोई भी कथा प्रौढ़ पाठकों या दर्शकों की तृप्ति नहीं कर सकती। संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने इस बात पर ध्यान रक्खा है और इसी हेतु उन्होंने 'नियताप्ति' की अलग एक अवस्था मानी है और 'निर्वहण' संधि की योजना की है। बिना संघर्ष के किसी साहित्यिक वस्तु का उदय नहीं हो सकता—जिसमें संघर्ष न होगा वह साहित्यिक न होगी और आनन्ददायिनी न होगी। हम कह सकते हैं कि संसार के दो सर्वश्रेष्ठ नाटक 'अभिज्ञान शकुन्तला' और 'उत्तररामचरित' संस्कृत-नियमानुसार सुखान्त होते हुए भी यूनानी ट्रैजेडी की परिभाषा को संपूर्ण करते हैं। मानव हृदय से सम्बन्ध रखने वाले सिद्धान्त सर्वत्र एक हैं, अतः भारतीय और यूनानी परिभाषाओं में भेद होते हुए भी उनका तथ्य भिन्न नहीं है। जब संघर्ष में ही कथा का आनन्द है तो वर्तमान नाटककारों की उस प्रवृत्ति का भी रहस्य खुल जाता है जिसके कारण आधुनिक नाटकों का प्रारम्भ वस्तुविकास की आरम्भिक अवस्थाओं को छोड़ कर किया जाता है।

भारतीय तथा पाश्चात्य नाटकों के अंतरंग सिद्धान्तों का इतना परिचय प्राप्त कर लेने पर हम यह कह सकते हैं कि वस्तु-व्यापार और उसके परिमाण की दृष्टि से बँगला और हिन्दी नाटकों में किसी प्राचीन संस्कार या विदेशी प्रभाव को ढूँढ़ना विशेष रूप से सरल नहीं है। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि बन्धनों की शृंखला पूर्णरूप से तोड़ दी गई है। दुःखान्त नाटक भी लिखे गए हैं और

उद्देश्य को लेकर आरम्भ से अन्त तक तत्सम्बन्धी व्यापार-पुञ्ज को चित्रित करके उद्देश्य की विजय दिखाई जाती थी। यही सिद्धान्त था, नियम था। प्राणिमात्र के मूल आदर्श को इस प्रकार घटनाओं का स्वाभाविक परिणाम दिखा कर आशा के संकेत द्वारा सिद्ध किया जाता था। इन्हीं घटनाओं में भलाई-बुराई के पारस्परिक प्रतिघात, ऊँचे-नीचे, धनी-निर्धन आदि सबके द्वंद्व का समावेश होसकता था—परन्तु गौण रूप से, प्रधान आदर्श को न भूल कर; क्योंकि प्रधान आदर्श की चेष्टा में छोटे-मोटे अन्य आदर्श स्वयं ही आ मिलते हैं। अतः, इस सामान्य आदर्श के संकेत में व्यक्ति की चिन्ता भी नहीं होती थी। नेता समस्त द्वंद्व-संकुल मानवता का श्रेष्ठ प्रतिनिधि था और उसके मार्ग में बाधाएँ डालने वाला प्रतिनेता स्वाभाविक रूप से अश्रेष्ठ ही हो सकता था। अधिकांश अवस्थाओं में प्रतिनेता केवल प्रतिरूप परिस्थितियों का साधनमात्र रहता था, नायक का यथार्थ प्रतिपक्षी नहीं होता था। जहाँ वह प्रतिपक्षी होता था वहाँ भी नायक के समान प्रधानता का अधिकारी न हो सकने के कारण वह एक अप्रस्तुत सत्ता ही था। अतएव, इस कला में भिन्न भिन्न पक्षों की अवतारणा के लिए किसी उत्कट आग्रह का कट्टरपन नहीं देखने में आता। क्योंकि संघर्षजनक परिस्थितियाँ वर्ण्य विषय न होकर उस तूफान की भाँति होती हैं जो एक विक्षुब्ध वातावरण में अकस्मात् उदय हो जाता है परन्तु जिन पर विजय पाकर चतुर नाविक शीघ्र अपने को शान्त समुद्र के बीच में पाता है। व्यक्ति या पक्षों की सकीर्ण सांप्रदायिकता से अतिमुक्त समग्र मानवता के साधारण उद्देश्य की ओर स्वाभाविक घटनाओं के परिणाम द्वारा अव्यक्त परन्तु यथार्थ संकेत करना—यह साहित्यिक आदर्शवाद का पहिला रूप है। संस्कृत साहित्य का

आदर्शवाद यही है।

आदर्श का दूसरा रूप दो प्रस्तुत विपक्षों की कल्पना में प्रादुर्भूत होता है। दोनों पक्ष प्रधान रहते हैं। भेद केवल इतना होता है कि अन्त में या तो सत्पक्ष विजयी होता है, या असत्पक्ष सुधर कर सत्पक्ष में मिल जाता है। इस प्रकार के दो पक्षों की जन्मभूमि प्राय: सममामयिक समाज होता है जो आदर्श के भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से अनेक पक्षद्वन्द्वों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसे साहित्य का नेता और प्रतिनेता समाज की इन्हीं टुकड़ियों का प्रतिनिधि होता है, सामान्य मानवता का नहीं। कभी कभी इस द्विपक्ष-कल्पना का आधार व्यक्ति भी होता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति को भिन्न भिन्न प्रलोभनों के स्थलमें ले जाकर उसकी सदसत् प्रवृत्तियों के द्वन्द्व के बाद उसका सुधार कराया जाता है। सामाजिक और व्यक्तिगत द्वन्द्व की इन दोनों परिस्थितियों की साधना के लिए कभी कभी एक गौण अवलम्ब का भी आश्रय लिया जाता है— किसी ऐसे निर्लिप्त व्यक्ति की योजना की जाती है जो देखने मे महात्मा मालूम होता है और जिसके दर्शनमात्र मे लोगों के सत्व को उत्तेजित करने की सामर्थ्य रहती है। जिस साहित्य में इस प्रकार का प्रयास रहता है उसमें भी स्वाभाविक घटनाओं के स्वाभाविक परिणाम द्वारा ही आदर्श-सिद्धि की जाती है। ऐसे साहित्य की कृतियों को अलग अलग देखने से उनके आदर्शवाद की चेष्टा वैसी स्पष्ट नहीं होती, परन्तु उनकी समष्टि का अध्ययन करने पर आदर्श-स्पृहा का वेगस्रोत, जो उनके भीतर सामान्य रूप से बहता रहता है, तीव्र हो उठता है।

तीसरे रूप में आदर्शवाद एकदम उपदेश हो जाता है। यहाँ

कहीं तो इस आदर्श का रूप एकदम लेक्चर-बाजी हो उठता है और कहीं वह किंचित् संयत रहता है। लेक्चर-बाजी का सब से निकृष्ट उपाय यह है जिसमें लेखक स्वयं खम ठोंक कर प्लैटफ़ार्म पर आ जाता है और स्वयं अपने उपदेश का उद्गार करता है। नाटक में इस प्रकार के उपदेश की संभावना नहीं। इस से कम निकृष्ट प्रकार वह है जहाँ लेखक स्वयं न बोल कर किसी पात्र को अपना प्रतिनिधि बना लेता है। उत्कट आदर्शवाद के नाटकों में ऐसे पात्र का प्रयोग कर लिया जाता है जो आदर्शपात्रों को समझाता-बुझाता ही नहीं, उनको डाटता-फटकारता भी है। सब से उत्तम उपाय शायद वह है कि जिसमें साधारण पात्र—एकदम अधोगत नहीं—आदर्शपात्र के कार्यों से उत्साहित होते हैं और अपने को उन्नत बनाते हैं अथवा जिसमें वे स्वयं ही अपने अनुभवों की कटुताओं से खिन्न होकर अपना आचरण बदलते हैं। इस अन्तिम अवस्था में लेखक का जो उपदेश रहता है वह कहीं बाहर से नहीं आता वह भुक्तभोगी पात्रों के निर्वेद और स्वागतोक्तियों के रूप में ही हमारे सामने उपस्थित होता है। इसमें लेखक पात्रों के दुरनुभवों को किंचित् कटुपन और अतिरंजना के साथ चित्रित करता है, अतः उसका व्यक्तित्व छिपा नहीं रहता और इसीलिए इसकी गणना आदर्शवाद के तीसरे रूप में की गई है। इस तीसरे रूप का एक और स्वतंत्र प्रकार "दृष्टान्त-रचना" (Allegory) है जिसमें प्रायः मानव आचरण के अमूर्त धर्मों को सजीववत् चित्रित करके उनका द्वन्द्व दिखाया जाता है। कभी कभी इन धर्मों के प्रतिनिधि-स्वरूप कल्पित पात्रों द्वारा मनुष्य या जीवात्मा की विश्वयात्रा और उसके उद्देश्य का संकेत करना भी दृष्टान्त-रचना का साध्य रहता है। संस्कृत में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

इस प्रकार की रचना है। ऐसी रचनाएँ उस काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं क्योंकि उनमें मनोवेगों के आधार पर सम्यक् रसपरिपाक नहीं हो पाता। वे, आनन्द की नहीं, स्वाध्याय की वस्तु होती हैं।

आदर्शवाद और यथार्थवाद

यथार्थवाद या वस्तुवाद स्वतः आदर्शवाद का विरोधी नहीं है। जब तक आदर्शवाद यथार्थवाद की दृढभित्ति पर रहता है तब तक दोनों निभ जाते हैं। क्योंकि जिस प्रकार आदर्शवाद में आशावाद का आधार रहता है उसी प्रकार यथार्थवाद निराशावादी ही हो, यह आवश्यक नहीं। जीवन में आशा और निराशा, पाप और पुण्य, दोनों का सामञ्जस्य है। यदि हम देखते हैं कि पापी को सफलता होती है या पुण्यात्मा को असफलता, तो यह भी हमारे विकास की एक सीढ़ी ही है। ह्रास और विकास का द्वन्द्व अन्ततः विकास ही के लिए है। अतएव, यथार्थवादी जीवन की यथार्थता में प्रभावित होकर भी हमारे लिए निराशा की व्यञ्जना नहीं करता। आशा और निराशा के संकेत में लेखक का व्यक्तित्व मिला रहता है। यथार्थवादी इस व्यक्तित्व को सामने लाने के लिए लालायित नहीं रहता। जो लेखक पाप और कष्ट के यथार्थ दृश्य को देख कर हमेशा निराशा से दुखी रहता है और पाप और कष्ट को ही जीवन का रूप समझता है उसके लिए कुछ पश्चिमीय समालोचकों ने 'प्रकृतिवादी' (Naturalist) का नाम दिया है। यही प्रकृतिवादी आगे चल कर कभी कभी क्रोध और झुँझलाहट में समाज-सुधार के मिथ्या अभिमान को जन्म देता है और आदर्श को न समझता हुआ भी आदर्श में टाँग अड़ाने लगता है।

यथार्थवाद और वस्तुवाद का झगड़ा भारतीय साहित्य में अंग्रेजों के आने के बाद से हुआ है। हमारे प्राचीन साहित्य में ये शब्द नहीं हैं। हमारी जीवन-चर्या का रूप बदला, जीवन तथा व्यक्ति-सम्बन्धी नई नई भावनाओं का हमारे भीतर प्रवेश हुआ, जीवन-संघर्ष की जटिलताएँ बढ़ीं और हमारे सामाजिक आदर्शों में परिवर्तन हुआ। विधवा-विवाह, वर्ण-मीमांसा, राजनैतिक अध:पात आदि असंख्य समस्याएँ हमारे सामने आई जो आदर्श स्थिति की कामना करती थीं। व्यक्ति समाज का परम अंग होने के कारण, उसका सुधार भी आवश्यक हुआ। ललित साहित्य में मनोविज्ञान की महत्ता को स्वीकार कर व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्व पर जोर दिया गया। अंतर्द्वन्द्व चरित्र-चित्रण का प्रधान साधन बना और व्यक्ति के आत्मान्वेषण में सहायक हुआ। प्राचीन समय में जीवन की वर्तमान समस्याएँ नहीं थीं, साथ ही ललित-साहित्य सामाजिक प्रश्नों के हल करने का साधन भी नहीं समझा जाता था। हम देखते हैं कि प्राचीन कथा-वस्तुएँ अधिकतर प्रख्यात ही हैं, या जो उत्पाद्य भी हैं वे भी नितान्त सामाजिक न हो कर 'प्रख्यात' के ढंग पर अद्भुतता और वैचित्र्य (Romance) की ओर ही झुकती हैं। उस समय रस द्वारा ब्रह्मानन्दसंदोह की उद्भूति ही साहित्य का आदर्श थी। कविगण स्थायी साहित्य प्रसूत करना ही अधिक पसन्द करते थे।

भारतीय साहित्य में यथार्थवाद की चर्चा

आदर्शवाद के पिछले दोनों रूप अर्वाचीन समय की उपज हैं। मनोविज्ञान के आधार पर व्यक्ति का अन्तर्द्वन्द्व भी अर्वाचीन ही है। प्राचीन शास्त्र ने पहले ही नायक और नायिका के इतने विभाग और उपविभाग कर डाले थे और कवि उनके अनुसार चलने के

लिए इतना परतंत्र हो गया था कि नए अन्तर्द्वन्द्व दिखाने की चेष्टा की कोई गुञ्जाइश ही न रह गई थी। अब हम पुराने नायक-नायिका-भेद को अवैज्ञानिक और उपहास्य समझते हैं और प्रत्येक लेखक अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने पात्रों का स्वरूप निर्धारित करने और उनका अन्तर्द्वन्द्व दिखाने के लिये स्वतंत्र है।

अतएव, काव्य में विचारतत्व की दृष्टि से बड़ा परिवर्तन हो गया है। द्विजेन्द्रलाल राय में हम इसको देखते हैं। नाट्यवस्तु की परम्परानुगत प्रख्यातता का संस्कार रखते हुये भी उन्होंने कुछ सामाजिक नाटक लिखे हैं। गिरीशचन्द्र घोष ने तो सब सामाजिक ही लिखे हैं। सामाजिक वस्तुएं अधिकतर किसी उद्देश्य से निश्चित की जाती हैं। इन सामाजिक नाटकों में उस उद्देश्य की कमी नहीं है और उसको सुलझाने में लेखक के मस्तिष्क की उर्वरता क्रीड़ा करती है। राय के ऐतिहासिक नाटकों में भी हम सदैव किसी उच्च आदर्श की ओर एक स्पष्ट संकेत देखते हैं, यद्यपि उन्होंने कलात्मकता को अक्षुण्ण रखने के लिये कहीं उपदेश की चेष्टा नहीं की है। प्रायः उनके नाटकों में हम आदर्शवाद के दूसरे रूप का दर्शन करते हैं। परन्तु इसमें भी उन्होंने असत् को सत् बनाने में जबर्दस्ती नहीं की है। इस दृष्टि से उनके नाटक एक आमोदकर और स्वास्थ्यप्रद यथार्थवाद के बहुत समीप पहुच जाते हैं।

विदेश के संसर्ग से सब से बड़ा परिवर्तन जो हमारे साहित्य में हुआ है वह शैली का है। शैली किसी विषय को एक विशेष ढँग से उपस्थित करने का नाम है। हम देख चुके हैं कि भारतेन्दु के समय में ही बँगला नाटक में प्रस्तावना आदि तिरोहित हो गई थीं और

विदेशीय साहित्य का शैली पर प्रभाव

स्वयं भारतेन्दु ने भी कुछ 'नाट्यालंकारों' की अनावश्यकता पर जोर दिया था। शैली हमारे रहन-सहन तथा मन की पद्धति का अनुसरण करती है। जब जिस प्रकार हम अपना मानसिक तथा सामाजिक विकास करते हैं तब उसी के अनुसार हमारा वर्णन-प्रकार भी होता है। द्विजेन्द्रलाल राय के समय तक प्राचीन वर्णन-विधि एकदम छिन्न-भिन्न हो चुकी थी, यहाँ तक कि प्राचीन नामों तक का अस्तित्व न रह गया था। यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखने की है कि यद्यपि प्राचीन नामों और नियमों का अस्तित्व अब नहीं है, तथापि उनकी आत्मा विद्यमान है। नाटकीय वस्तु-साधना में जो उपकरण परम आवश्यक हैं वे किसी न किसी रूप में रहेंगे ही। उदाहरण के लिए, हम प्रस्तावना या विष्कम्भक और प्रवेशक को ले सकते हैं। पश्चिम के रोमैन्टिक ड्रामा में ऊपर बताई गई पाँच अवस्थाओं के अतिरिक्त प्रायः एक प्रारम्भिक छठी अवस्था भी देखने में आती थी जिसे Exposition कहते थे। इसका उद्देश्य वही था जो प्रस्तावना का रहता था—वस्तुविषय की प्राथमिक परिस्थितियों का परिचय कराना। आजकल हमारे 'सम्पूर्ण' नाटक, देखने में, पहले ही दृश्य से आरम्भ हो जाते हैं परन्तु, वास्तव में, पहला दृश्य अधिकतर स्थिति-परिचायक के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। इसी प्रकार, विष्कम्भक या प्रवेशक के समान ग्रीक नाटक में 'कोरस' और बाद के यूरोपीय नाटक में 'मध्यरंग' या Interlude होता था। नाटक में लेखक के वक्तव्य का स्थान नहीं होता और कथा की उपस्थित घटनाएँ प्रायः स्थान और अवधि के दीर्घ अन्तर से विभक्त तथा कभी कभी असम्बद्ध रहती हैं। उनके अनुक्रम को संगत करने के लिए ऐसे दृश्यों की आवश्यकता होती है जो अनुपस्थित घटनावली

की सूचना देते रहें। आजकल नाटकों में हम प्रवेशक या विष्कम्भक नहीं रखते, परन्तु अनभिनीत या अनभिनेय वस्तु के निर्देश के लिये अङ्कों के भीतर ऐसे दृश्यों की योजना अवश्य रहती है जो व्यापारविहीन तथा अप्रधान पात्रों के कथोपकथन-रूप में सूचनामात्र के लिए होते हैं। पर किसी नाटक में इस प्रकार के लक्षणों को देखकर हमें यह न समझ बैठना चाहिये कि वे प्राचीन शास्त्र के प्रति किसी श्रद्धा के चिन्ह हैं। उनका रूप और प्रयोग पाश्चात्य है और वे पाश्चात्य प्रभाव के ही द्योतक हैं।

• द्विजेन्द्रलाल राय में हम पाश्चात्य प्रभाव के सब लक्षण पाते हैं। इसके अतिरिक्त हम उनकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी देखते हैं। वह विचारशील विद्वान थे। अतएव उन्होंने स्वयं भी कुछ सिद्धान्त उपस्थित किए हैं। नाटक में अन्तर्द्वन्द्व को अत्यन्त प्रधानता देना उनका पहला कार्य था। शैली की दृष्टि से, नाटक की भाषा में भी एक प्रकार की विशेषता सम्पादन करना, दूसरा। अन्तर्द्वन्द्व और विशिष्ट भाषा, दोनों भावुकता के साधक थे। भावुकता की इस साधना में अतिरञ्जना अवश्य हो गई है। उनकी भाषा में कृत्रिमता है।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य एक प्रकार से सदा बँगला का अनुकरण करता रहा है। बँगला ने अंग्रेजी का अनुकरण किया और हिन्दी ने बँगला का। आधुनिक हिन्दी का प्रारम्भिक साहित्य अधिकतर बँगला का अनुवाद ही है। तदुपरान्त उसी के आदर्श पर मौलिक रचनाएँ हुईं। उपन्यास, कहानी, नाटक, सब में यही बात देखने में आती है। भारतेन्दु शैली का एकमात्र नाटक जो

पिछले बीस वर्षों में प्रकाशित हुआ है, पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुनयुद्ध' है। अन्यथा, द्विजेन्द्रलालराय का प्रभाव इतना गहरा हो चुका था कि नाटक के संबंध और हिन्दी नाटक में वर्षों तक उनके ग्रन्थ और सिद्धान्तों के अतिरिक्त और किसी प्रकार के आदर्शों की चर्चा ही नहीं थी। 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' अच्छा प्रयास था, परन्तु वह राय का ही अनुयायी था। वही आवेग, वही व्याकुल स्पंदन, वही उच्च आदर्शों का पक्षपात और वही भाषा—सब कुछ उसमें वही था। परन्तु 'उग्र' ने 'महात्मा ईसा', अपने पहले नाटक, के बाद ही नाटक लिखना बंद कर दिया। नहीं तो, अभ्यास से वह कुछ समय के उपरान्त हिन्दी में राय के नाटकों का समकक्ष एक स्वतंत्र साहित्य शायद उपस्थित कर सकते। असहयोग की प्रेरणा ने कुछ लोगों में ऊँचे आदर्शों की लालसा वैसे भी उदित कर दी थी, और जिस समय तमाम संसार महात्मा गांधी और ईसा की तुलना कर रहा था, 'उग्र' ने नैतिक आदर्श और देशभक्ति की भावनाओं को एक में समाविष्ट कर अपना यह प्रथम नाटक लिखा था। असहयोग की उत्तेजना से और भी इधर-उधर, विशेषत: पंजाब में, अनेक नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु वे साहित्यिक कोटि के न थे। असहयोग आन्दोलन का ह्रास होने पर साहित्य का नवीन उत्साह भी मंद पड़ गया, और 'उग्र' ने भी एक दूसरी पद्धति को ग्रहण किया।

द्विजेन्द्रलालराय के ढँग का एक अन्य नाटक जो 'महात्मा ईसा' के बाद लिखा गया श्रीयुत सुदर्शन का 'अञ्जना' है। इसमें 'महात्मा ईसा' की तड़प नहीं है, परन्तु द्विजेन्द्रलाल की शैली का इसमें भी अच्छा अनुसरण किया गया है। श्रीयुत सुदर्शन

ने भी 'अञ्जना' के बाद शायद कोई दूसरा नाटक नहीं लिखा। उन्होंने कहानी को ही अपना अधिकार-क्षेत्र रक्खा।

हिन्दी के अन्य नाटककार और उनकी प्रणालियाँ

कहानी के दूसरे प्रसिद्ध लेखक 'प्रेमचन्द' ने भी दो नाटक लिखने का प्रयास किया है। उन्होंने राय की शैली को ग्रहण नहीं किया है। वह 'उपन्यास-सम्राट्' हो चुके थे, अत उनके नाटक भी उपन्यासके ढँग के ही हैं। वे कथोपकथन के रूप में उपन्यास ही हैं और साहित्य की सम्पत्ति नहीं हो सके हैं।

इन साहित्यिक व्यक्तियों द्वारा, जिनकी साहित्य-प्रवृत्ति यथार्थ मे दूसरे ही मार्गों में अग्रसर हुई थी और अग्रसर रही, भूले-भटके एकाध नाटक का प्रणयन द्विजेन्द्रलाल राय के उस प्रभाव की सूचना देता है जो हिन्दी में नाट्य-रचना की चेष्टा का कारण हुआ। यह चेष्टा स्वभावजात नहीं थी, इसी से ये लोग अपनी नाटक-रचना में कोई स्थायित्व न दिखा सके। हमको मालूम है कि 'महात्माईसा' लिखने से पहले 'उग्र' भी कविता या कहानी ही लिखते थे। यही वह अपने नाटक के बाद भी लिखते रहे हैं।

द्विजेन्द्रलालराय के प्रभाव से उत्पन्न नवीन उत्साह का दूसरा प्रमाण नए नए लेखकों द्वारा किए गये अँग्रेजी तथा बँगला के नए नए नाटकों के अनुवादों में मिलता है।

अपने अपने स्वतंत्र ढँग से लिखने वाले नाटककारों में मिश्र-बंधुओं और पं० बदरीनाथ भट्ट का नाम गणनीय है। मिश्रबंधु विशेष रूप से नाटककार ही नहीं हैं। यथार्थमें, उनका मुख्य प्रयास हिन्दी साहित्य के इतिहास की ओर रहा है। तथापि जो एकाध

नाटक उन्होंने लिखे हैं उनकी एक अपनी ही रीति है। पं० बदरीनाथ भट्ट के नाटकों का एक अलग वर्ग है और श्रेष्ठता की दृष्टि से ये मिश्रबंधुओं के नाटकों से ऊपर है। सादगी और बातचीत की यथासाध्य स्वाभाविकता इनका प्रधान लक्षण है भट्टजी ने प्रहसन भी लिखे हैं। प्रहसन-लेखकों में श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव भी प्रसिद्ध हैं, परन्तु उनकी कृतियों में साहित्यिक गुणों का अभाव है। अभी, थोड़े दिन हुए, श्रीयुत आनन्दी प्रसा श्रीवास्तव ने भी 'अछूत' नाम का एक नाटक लिखा है। य हमारे देखने में भी नहीं आया है, परन्तु इसके विज्ञापनों में देख गया है कि यह द्विजेन्द्रलालराय के नाटकों को मात करने वाला है मालूम होता है, राय महाशय की मोहनी का प्रभाव अभी › वर्तमान है।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के द्वितीय और तृतीय दशाब्दों में हिन्दी नाटक की अनेक प्रणालियाँ देखने में आई हैं। भारतेन्दु-प्रणाली और राय-प्रणाली के अतिरिक्त स्वतंत्र रीति से लिखने वाले लेखकों में प्रत्येक की अपनी अपनी प्रणाली है। मिश्रबंधु-प्रणाली भट्ट-प्रणाली, और श्रीवास्तव-प्रणाली का उल्लेख हो चुका है। अप्रसिद्ध लेखकों में खोजने से शायद एक

जयशङ्कर 'प्रसाद' दो प्रणालियाँ और निकल आवें। इस नाटकीय वातावरण में श्रीयुत् जयशङ्कर 'प्रसाद' हमारे ध्यान को विशेष रूप से आकर्षित करते हैं। कुछ तो औरों की अपेक्षा अपने नाटकों की अधिक संख्या के कारण, और कुछ अपनी शैली की प्रधान विशेषताओं के कारण, वह आज कल के नाटककारों में सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। उनकी भी अपनी एक स्वतंत्र प्रणाली है, जिसे गणना-क्रम में हम 'प्रसाद-प्रणाली' कह

सकते हैं, और उसकी विशेषताएं इतनी ज्वलन्त हैं कि उनकी कला विद्वानों के विवाद की वस्तु बन गई है। एक ओर तो प्रत्येक ऊंची परीक्षा मे उनके नाटकों को स्थान देकर उसकी विशिष्ट सत्ता को स्वीकार किया जारहा है और दूसरी ओर दो तीन विरोधी अलोचनाओं या सम्मतियों द्वारा उसके महत्त्व को अनंगीकार भी किया गया है। अधिकतर इस विवाद की प्रवृत्ति दूसरे पक्ष की ही ओर है। जो लोग अपनी सम्मतियाँ प्रकाशित नहीं कराते हैं उनमे भी अधिकांश इसी पक्ष की ओर झुके हुए हैं।

—

२

जयशङ्कर 'प्रसाद' की नाट्य-कला

कला

कला की भावना में हम सौन्दर्य-सृष्टि द्वारा मानव वृत्तियों के साफल्य की कामना करते हैं। कला का उद्देश्य है इस संसार के क्लेश-कलाप से ग्रस्त मानव को ऊँचे भावलोकों में लेजाकर उसके लिए आनन्द-ज्योति का प्रसार करना। सौन्दर्य किसको आनन्द नहीं देता? अथवा जो आनन्द देता है वही सौन्दर्य है। तथापि सौन्दर्य और आनन्द के इस मञ्जुल युग्म में एक स्थायी और सार्वत्रिक सम्बन्ध-निर्वाह की आवश्यकता है जिससे कि जो

कला स्थायी सौन्दर्य की उद्भावना है।

हमें आनन्द देनेवाला है वह दूसरों को भी आनन्द दे सके, जो यहाँ सुरस की वर्षा करता है वह अन्यत्र भी अपने अभिषेक में पिपासुओं की तृषा को दूर कर सके। तभी वह सात्त्विक सौन्दर्य की कोटि में आसकेगा। चन्द्रमा मन को आनन्द देता है, इसमें वह सुन्दर है। परन्तु पुत्र का बालमुख उससे भी अधिकसुन्दर है, क्योंकि वह अधिक, और सर्वदा, आनन्द देता है। इसीलिए उसे मुखचन्द्र कहते हैं। तुलना में तुलित की अवहेला ही तो है—और तुलनीय का शृंगार। अनुभव बतलाएगा कि चन्द्र-वर्णन इतना अधिक जनता को मोदकारी नहीं होता जितना को वात्सल्य में प्रपूरित सरस काव्य।

विश्व-भर का सौन्दर्य प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रति समय उपलब्ध नहीं। हिमवान् की हिमशिखाओं का हमारे लिए इस समय अस्तित्व नहीं है। कला सत्य सौन्दर्य की उसकी अनुपस्थिति में सृष्टि करती है। यही कारण है कि दूर बैठे प्रियजन का हम उसके चित्र द्वारा हर समय साक्षात्कार कर सकते हैं। सब कलाओं का यही लक्ष्य है।

कला दो हृदयों का मूक साधन है

इस लक्ष्य से मिलता-जुलता कला का एक लक्ष्य और भी है। वह कलाकार के अन्तःकरण या हृदय को कलारसिक के अन्तःकरण या हृदय तक लेजाकर दोनों मे मैत्री कराती है। कलाकार जिस भाव या पदार्थ का साक्षात्कार जिस रूप मे करता है उसे वह उसी रूप में रसिक को प्रत्यक्ष कराने का प्रयत्न करताहै। साक्षात्कार कला-जनक का परम कर्त्तव्य है अन्यथा, अपने विषय मे स्वयं अपरिचित होने के कारण वह उसे दूसरे तक नहीं पहुँचा सकेगा।

जो कला रसिक में प्रत्यक्षता का अनुभव नहीं लाती वह कलाकार में भी प्रत्यक्षानुभव की हीनता को ही सूचित करती है और 'कला' नाम की अधिकारिणी नहीं। काव्य-कला के सम्बन्ध में कहा जाता है कि कवि का प्रत्यक्ष मानस प्रत्यक्ष होता है। यह सत्य है; परन्तु मानस प्रत्यक्ष कभी न कभी, किसी न किसी स्तर में, शारीरिक प्रत्यक्ष पर ही निर्भर रहता है।

साक्षात्कार-सिद्धान्त के आधार पर हम कह सकते हैं कि मानव अनुभवों का संगठन करना और मनुष्य-जीवन के अन्तर्लीन तत्वों के अनुसार उनको क्रमबद्ध करना प्रत्येक कला का काम है। परन्तु कुछ कलाकार तो स्थूल अनुभवों के विवरण पर अधिक ज़ोर देते हैं, और कुछ इन अनुभवों के निर्देशक उन नियम रहस्यों को खोजने में लगे रहते हैं जो सर्व प्रकृति के मूल हैं। पहले प्रकार के कलाकार अवस्था के चित्रण में, कभी संकेत और कभी वर्णन द्वारा, इन भावों का उद्रेक कराकर आनन्द-प्रदान की चेष्टा करते हैं, और दूसरी प्रकार के, इन अवस्थाओं के भीतर प्रकृति के निमित्तों और प्रयोजनों को देखकर उनके सिद्धान्तों की व्यञ्जना करते हैं। एक में हृदय की शुद्ध तृप्ति का अधिक प्रयास रहता है, दूसरे में हृदय के साथ मन की तृप्ति का भी।

अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कला भिन्न भिन्न रूप ग्रहण करती है। तक्षण, चित्र, संगीत, काव्य उसके भिन्न भिन्न रूप हैं। काव्य-कला इन सब में श्रेष्ठ है। उपन्यास कहानी, पद्यबद्ध कविता, नाटक आदि काव्य के अनेक प्रकार हैं। प्रत्येक प्रकार का अपना पृथक् पृथक् मार्ग है और प्रत्येक के आचरण के लिए कुछ नियम हैं। नाटक के नियमों और उनके विकास के सम्बन्ध में हम

कला में नाटक

थोड़ा-बहुत जान चुके हैं। नाटककार की सब से बड़ी कठिनता यह है कि कुछ रंगसंकेतों को छोड़ कर उसे कहीं भी अपनी ओर से कुछ कहने का अधिकार नहीं है—वह अपने व्यक्तित्व को कहीं भी प्रकट नहीं कर सकता। दूसरी कठिनाई जिसका उसे सामना करना पड़ता है इस बात में समझी जाती है कि उसे अपनी कृति में अभिनय की संभावना का भी ध्यान रखना पड़ता है। दूसरी कठिनाई ही से पहली कठिनाई का भी उदय होता है, क्योंकि उसके कारण नाटककार के पास कथोपकथन को छोड़ कर और कोई माध्यम नहीं रह जाता। इसी माध्यम के द्वारा उसे अपने वस्तु-व्यापार का प्रसार करना पड़ता है, इसी के द्वारा चरित्र-चित्रण, और इसी के द्वारा वह अपना संदेश कहता है।

नाटक की दो कठिनाइयाँ

यह निर्विवाद है कि माध्यम की दृष्टि से कथोपकथन और अभिनय की दृष्टि से क्रिया-व्यापार (action) नाटक के पहले आवश्यकीय तत्त्व हैं। अन्य बातें जैसे और प्रकार के काव्यों में सामान्य हैं वैसे ही नाटक में भी। इन दो तत्त्वों के सुचारु प्रयोग से नाटककार अन्य बातों में सुगमता से सफल हो सकता है।

प्रसाद के नाटक

अतएव, कथोपकथन और क्रिया-व्यापार के सदुपयोग में ही किसी नाटककार की विशेषता देखी जा सकती है। इसके बाद उसकी शैली और उसके विचार, उसकी विशेषता के सम्पादक होते हैं। हिन्दी के नाटककारों में जो एक एक लेखक का एक एक वर्ग है उसे हमने देखा है। उनमें श्रीयुत जयशङ्कर

कारण इन तमाम नए नए प्रयासों में उन्होंने कहीं भी भद्दापन नहीं आने दिया है। साथ ही उनकी शैली की स्वाभाविक विशेषता सब में समान रूप से अपनी छाप छोड़ती हुई दृष्टिगोचर होती है।

जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटकों में देश-काल का प्रभाव: नाटकों का रचना-क्रम

किसी नाटककार के ऊपर देश और काल की परिस्थितियों का कहाँ तक प्रभाव पड़ा है इसका पता लगाने के लिए, हमको मालूम है, उसकी शैली और विचारधारा का हमको अन्वेषण करना पड़ता है। यदि उसकी शैली और विचारधारा यत्र-तत्र असम महत्त्व की हैं, अर्थात् यदि उनका क्रमशः विकास हुआ है, तो हमें उस विकास के क्रम को देखनेकी आवश्यकता है। श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' की शैली और विचार का क्रमशः विकास हुआ है। परन्तु, दुर्भाग्य से, उनके भिन्न भिन्न नाटकों के रचना-क्रम को जानने का हमारे पास साधन-विशेष नहीं है। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि 'चित्राधार' में संगृहीत उनके दो रूपक शायद उनकी सर्वप्रथम रचनाओं में से हैं। उनका प्रथम नाटक जो स्वतंत्र रूप से प्रकाशित हुआ वह 'विशाख' है। 'प्रसाद' 'राज्यश्री' को अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक कहते हैं जो पहले-पहल 'इन्दु' में प्रकाशित हुआ था। परन्तु स्वतंत्र प्रकाशन के क्रम में यह सब से पिछले नाटकों में से है। नाटक की भूमिका में लेखक ने इसके सम्बन्ध में कहा है—"उस समय यह अपूर्ण ही-सा था, वर्तमान रूप इसका कुछ परिवर्तित और परिवर्धित है, किन्तु मूल में नहीं।" 'मूल' से अभिप्राय यहाँ शायद केवल कथा-भाग से है; अतएव, शैली के अध्ययन में, एकाध बात को छोड़कर,

यह नाटककार के प्रारम्भिक विकास की समुचित सूचना कदाचित् न दे सके। प्रकाशन-क्रम में 'विशाख' के बाद 'अजातशत्रु', और फिर 'जनमेजय का नागयज्ञ' आते हैं। 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' इन के बाद का है।

प्रकाशन-क्रम रचना-क्रम का अनुसारी न होने के कारण जो कठिनता उपस्थित होती है उसमें थोड़ी-सी कमी इस आशा से हो जाती है कि 'प्रसाद' जैसे कलानुयायी लेखक ने प्रकाशन के समय उनका थोड़ा बहुत संशोधन अवश्य किया होगा। कदाचित् ऐसी ही बात है भी। 'राज्यश्री' इसका प्रमाण है। 'अजातशत्रु' के बाद के संस्करणों में भी संशोधन किया गया है। 'विशाख' पहले संस्करण के बाद दुबारा छपा है या नहीं, यह हमें नहीं मालूम। परन्तु यदि छपा है या छपेगा तो उसमें भी संशोधन होंगे, ऐसी आशा की जा सकती है।

रचना-शैली का विकास

'सज्जन' में संस्कृत शैली के चिन्ह

'प्रसाद' की प्रारम्भिक रचनाओं में 'सज्जन' को देखने से हमें उनके प्राचीन से अर्वाचीन की ओर उत्तरोत्तर प्रसार की प्रथम अवस्था का परिचय मिलता है। 'सज्जन' बीस पृष्ठों का एकांकी रूपक है। इसकी रचना संस्कृत, तथा हिन्दी की पुरानी, शैली की है। आरम्भ में 'नान्दी' दिया हुआ है। उसके बाद सूत्रधार आता है और अपनी स्त्री से नाट्याभिनय का प्रस्ताव करता है। बातचीत में चातुरी से सज्जनता का संकेत हो जाने पर स्त्री को 'सज्जन' का स्मरण हो आता है और उसी का खेला जाना निश्चित होता है। फिर सूत्रधार अपनी पत्नी से कुछ

गाने की प्रार्थना करता है कि इतने ही में नेपथ्य से मृदंग की ध्वनि सुनाई देती है और पत्नी कहती है—"अब तो महाराज दुर्योधन के सभा ही में गाना आरंभ हुआ है।" पति उत्तर देता है—"क्या अभिनय आरंभ हुआ ? तो चलो जल्दी चलें।" इसके बाद दृश्य बदलने पर दुर्योधन की सभा दिखाई देती है। प्रकृत अभिनय का आरम्भ होता है।

नान्दी—प्रस्तावना

'सज्जन' के कथोपकथन में इधर-उधर पद्य का भी सम्मिश्रण है, जैसे संस्कृत नाटकों में हुआ करता था। पात्रगण अपनी गयोक्ति की पुष्टि के लिए पद्य का व्यवहार करते हैं जो दृष्टान्त रूप में होता है। इस प्रकार इस नाटक के पद्य का ढंग भी संस्कृत का जैसा ही है। एक उदाहरण देखिए :—

कथोपकथन आदि-भरतवाक्य

"सेनापति—मैं स्वामी के आज्ञानुसार शिष्टता के साथ कह रहा हूँ, नहीं तो दूसरी प्रकार से आप लोगों का आदर किया जायगा। क्योंकि—

प्रथम रात्रि महामति मान की।
शुचि बतावहिं नीति विधान की॥
यदि न मानहिं मूरख टेक सों।
तब करें हठि दण्ड अनेक सों॥"

प्रकृति-वर्णन में प्राचीन नाटक की भाँति किसी प्राकृतिक दृश्य से आधार अथवा नीति का कोई तत्त्व-निरूपण करने की प्रायः चेष्टा की गई है। जैसे—

"जो आइ दरिद्र हिय सदमोद लावे,
है पावसौ हिय मॉह लगन लावे।
ऐसे जिन्हें दरिद्र लोग सबै हमारी,
पावो हिया हित जिन्हें 'सज्जन सुरारी'" ॥

संस्कृत में कालिदास और हिन्दी में तुलसीदास आदि ने प्राकृतिक दृश्यों का, क्लिष्ट प्रयोगों के आधार पर, इस प्रकार का भूरि प्रयोग किया है। इन पद्यों में संस्कृत छंदों का ही उपयोग है। पुराने हिन्दी नाटक के ढंग पर खड़ी-बोली-भाग के भीतर पद्य ब्रजभाषा में हैं। कथोपकथन भाग अतिसंक्षिप्त है—पात्रगण भावना-भर की ही बात करते हैं और दूसरे को बोलने के लिए अवकाश देते हैं। साथ ही, नाटक यद्यपि छोटा है, उसमें कार्य व्यापार की कमी नहीं है। विचार तथा वस्तु के प्रतिपादन की दृष्टि से, कथोपकथन की यह सादगी तथा व्यापार की क्षिप्रता लेखक के विकास के अध्ययन में बड़ी सहायक है। क्योंकि, प्रारम्भिक नाटकीय प्रयास में प्रायः लेखक में अभिनय का कुछ न कुछ उद्देश्य अज्ञात रूप से वर्तमान रहता ही है और वह अपने समय के सर्वमान्य आदर्शों का ही आधार ग्रहण करता है। इसीलिए, अलक्ष्य रूप से ही, 'सज्जन' में लम्बे लम्बे और अनिगदन भाषण भी नहीं आने पाये हैं; यद्यपि, जैसा कि पद्यभागों को देखने से मालूम होता है, लेखक में गहन विचारणा का बीज मौजूद था। संस्कृत नाटकों के अनुसार 'सज्जन' का अन्त भरत-वाक्य में होता है।

'सज्जन' के बाद के नाटकों में प्रस्तावना का अभाव है। परन्तु सम्पूर्ण वस्तु के नाटकों में पहला दृश्य प्रायः परिस्थिति और पात्रों का परिचायक ही होता है। इस प्रकार प्रस्तावना का

बाद के नाटकों में प्रस्तावना आदि का रूप

रूप न होने पर भी उसमें प्रस्तावना का एक गौण उद्देश्य रहता है। रोमैन्टिक काल के अँग्रेजी नाटकों में भी कभी कभी हम यही बात देखते हैं। 'प्रसाद' के तीन अन्य नाटकों में प्रथम दृश्य अधिकतर इसी परिपाटी की भाँति प्रयुक्त हुआ है, जिसका वस्तु-व्यापार से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं होता। 'अजातशत्रु' का यथार्थ आरम्भ दूसरे दृश्य से होता है प्रथम दृश्य केवल कतिपय प्रधान पात्रों के चरित्र का परिचय देता है। 'स्कन्दगुप्त' में पहला दृश्य कुछ पात्रों के परिचय के अतिरिक्त उन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों से अवगत कराता है जिन परिस्थितियों में यथार्थ वस्तु का आरम्भ होता है। इसी प्रकार 'नागयज्ञ' का प्रथम दृश्य—अपने अन्तर्द्वन्द्व के कारण और भी—एकान्त सूचनात्मक है। परन्तु, दूसरी ओर 'विशाख' और 'राज्यश्री' में व्यापार पहले दृश्य में ही आरंभ हो जाता है—बल्कि, यह कहा जा सकता है कि इनमें प्रत्येक में दो दो दृश्यों का व्यापार सहज है। और 'एक घूँट' तो परम नवीनता का ही उदाहरण है। बर्नार्डशॉ आदि के नाटकों की भाँति इसके रंग-संकेत अधिक विस्तृत और वर्णनात्मक हैं, जो वस्तु को विकसित अवस्था में आरम्भ करने के लिये किञ्चित् अपेक्षित होते हैं। 'एक घूँट' का प्रथम दृश्य विकसित वस्तु की कल्पना को लेकर ही आरम्भ होता है।

¹ भरतवाक्य के ढँग का एक पद्य 'प्रसाद' के कई नाटकों के अन्त में देखने को मिलता है। 'सज्जन' में हम देख ही चुके हैं। 'विशाख', 'जनमेजय का नाग यज्ञ', 'कामना', 'करुणालय' और 'राज्यश्री' में भी देखते हैं। 'एक घूँट' के अन्त में भी उसके विषय के अनुकूल एक पद्य दिया है। यह वास्तविक भरतवाक्य के ढँग का नहीं है—

शायद इसलिये कि इस नाटक में सांसारिक संघर्ष और आशा-निराशा के भयंकर दृश्य नहीं आए हैं। परन्तु अपने उद्देश्य की ओर उसमें शुभकामना है।

गत और आगन्तुक कथाशों के संयोग के लिए दृश्य आए हैं, इन्टर्ल्यूड' के ढँग के ; विष्कम्भक-प्रवेशक का विवेक उनमें नहीं है। परन्तु इनमें इन्टर्ल्यूड' की पद्धति का अनुसरण किया गया है, यह हम नहीं कह रहे हैं। ऐसे दृश्यों का लाना नाटक में अनिवार्य होता है, इसीलिए उनका प्रयोग हुआ है। 'सज्जन, की कथा बहुत संक्षिप्त होने के कारण उसमें 'इन्टर्ल्यूड' नहीं हैं, 'विशाख' और राज्यश्री'में कम, परन्तु अजात 'नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त में बहुत अधिक। इसका एक कारण यह हो सकता है कि पिछले तीन नाटक बड़े हैं और उनकी वस्तु अति जटिल है। 'राज्यश्री', की भी वस्तु जटिल है, परन्तु नाटक छोटा है और उसमें व्यापार अधिक है, जिसके कारण गतिहीन दृश्यों की अधिकता नहीं हो सकी है।

संयोजक दृश्य

नाटकीय गति और कथोपकथन दो भिन्न पदार्थ हैं, जिनमें गति का महत्त्व अधिक है। जिन नाटकों में अभिनय का उद्देश्य प्रधान रहता है उनमें गति या व्यापार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। कथोपकथन को भी इसी गति का मुखापेक्षी होना पड़ता है। 'सज्जन' के कथोपकथन पर हम विचार कर चुके हैं उस के बाद 'विशाख में भी कथोपकथन की सादगी को बनाए रखने का प्रयास दृष्टि-गोचर होता है। 'विशाख' लिखते समय भी लेखक को अभिनय का ध्यान था। 'विशाख' की

कथोपकथन में परिवर्तन

अपने नाटकों के सम्बन्ध में यह लिखते हैं—"आजकल के पारसी रंगमंचों के अनुकूल ये नाटक कहाँ तक उपयुक्त होंगे इसे मैं नहीं कह सकता। क्योंकि उनका आदर्श केवल मनोरंजन है। हाँ जातीय आदर्शों से स्थापित यदि कोई रंगमञ्च, जहाँ कि चमक दमक से विशेष ध्यान पात्रों के अभिनय पर और आदर्श के विकास पर रक्खा जाता हो, कोई सम्मति, अपने अभिनय में अड़चन पड़ने की दे तो मैं उसे स्वीकार करने के लिए सर्वदा प्रस्तुत हूँ......।" इस उक्ति से 'प्रसाद' अपने विशिष्ट सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुए अभिनय के प्रति एक उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं और 'विशाख' में उसके पालन की चेष्टा दिखाते हैं। 'विशाख' और 'अजातशत्रु' में कथोपकथन के बीच में पद्य देने का पुराना अनुराग कुछ कुछ बना हुआ है, यद्यपि अब वह उतना अधिक नहीं है। 'सज्जन' में आए हुए कर्ण और दुर्योधन के पद्यमय वार्तालाप की वैसी, नर्मवृत्ति भी दिखाई नहीं देती जिसमें एक के प्रकृति-दर्शन के साथ साथ दूसरा तत्काल ही शृंगारी उपमाओं की कल्पना से पादपूर्ति करता जाता है। परन्तु 'विशाख' के कथोपकथन में, एक दूसरे प्रकार की नाटकीय साधना थोड़ी थोड़ी प्रत्यक्ष होती है, जो प्रायः थियेट्रिकल नाटकों में देखी जाती है। यह है बातचीत की चपलता, गद्य-तुकान्त या अन्य किसी ढंग का शब्दक्रीड़ा। पृष्ठ ३ पर विशाख कहता है—"उन बीती बातों को सोच कर हृदय को दुखी न बनाओ। अपना शुभ नाम सुनाओ।" पृष्ठ ३७-३८ पर महापिंगल और तरला की बातचीत इस प्रकार होती है —

"महापिङ्गल— देखो कैसे पिघल गई गर्म कड़ाई में घी हो गई। गहने का जब नाम सुना, बस पानी पानी।"

"तरला—बातें न बनाओ लाओ मेरा हार।"

"महापिङ्गल— अभी तार लगे तब न द्वार मिले ..!"

ऐसे ही, "जिसने धान खाया उसने चपत खाया।" (पृष्ठ४९) 'विशाख' में स्वगत भाषणों का ढँग भी भिन्न प्रकार का है। प्राय बात चीत के बीच में ही कोई पात्र बहुत थोड़ी देर के लिए सोचने लगता है। बाद के नाटकों की भाँति लम्बे लम्बे तथा दार्शनिकता या ऊँची कविता से भरे हुए एकाकी पात्रों के आत्म-भाषण, इसमें नहीं के तुल्य हैं। पृष्ठ ३९-४० पर अवश्य एक बहुत लम्बा 'स्वगत' है, परन्तु उसमें किसी प्रकार की अति-दार्शनिकता नहीं है। साथही 'विशाख' में—यद्यपि यहीं से हमें लेखक की उस साहित्यिक शैली के प्रारम्भिक चिन्ह मिलने लगते हैं जो बाद के नाटकों में बराबर बढ़ती चली गई है—हम भिन्न भिन्न पात्रों की भिन्न भिन्न अवस्थाओं और योग्यता के अनुसार उनकी बातचीत में भी एक प्रकार का विभेदक सिद्धान्त देखते हैं। महापिंगल विदूषक, राजा का नर्मसहचर, एक मूर्ख-सा हँसोड़ है जो, संस्कृत नाटक की भाँति 'विशाख' में भी, अपने आश्रयदाता के गुप्त प्रेम-प्रबंधों में साधक का काम देता है। बाद के नाटकों में लगभग प्रत्येक पात्र किसी न किसी अंश में दार्शनिक हो जाता है।

संस्कृत शास्त्र के विरुद्ध 'प्रसाद' के नाटकों में कहीं कहीं वर्जित दृश्य आगए हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में जरत्कारु की मृत्यु, और बाद में, हवन-कुण्ड में नागों की आहुति ऐसे प्रसंग हैं। 'प्रायश्चित्त' में जयचन्द से आत्म-हत्या कराई गई है। 'अजातशत्रु' में श्यामा की हत्या का अन्त उसकी मृत्यु में नहीं होता, परन्तु दर्शकों या पाठकों के मन पर घटना का अनिष्ट प्रभाव अवश्य पड़ जाता है।

प्राचीन वर्जित प्रसङ्ग

शैली के अन्तर्गत, बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' की सब से बड़ी विशेषता उनकी भाषा की है। कुछ विद्वानों का तो मत है कि उनकी अत्यन्त 'पथरीली' भाषा के कारण ही—

भाषा 'पथरीली' एक दूसरे सज्जन का प्रयोग है—उनके

नाटक परम अनभिनेय हो गए हैं, जिसके कारण वे इन ग्रन्थों को 'नाटक' नाम का अधिकारी नहीं समझते। 'प्रसाद' की भाषा साहित्यिक है। उन्होंने वैसी भाषा का प्रारम्भ में ही अभ्यास किया है। सीधे-सादे 'विशाख' में भी हम कहीं कहीं ऐसे वाक्य पढ़ लेते हैं—"क्या क्षितिज की सीमा में उठते हुये नील नीरद मण्डल को देखकर कोई बतला देगा कि यह मधुर फुहारा बरसावेगा कि वज्रपात करेगा।" परन्तु इसमें लालित्य है। 'प्रसाद' सब से पहले, कवि हैं; बाद में कुछ और। 'विशाख' के गद्यांश सरल और व्यवहारोपयुक्त हैं पर पद्यांशों से काव्य की मधुरिमा नहीं हटाई जा सकी है। ऊपर के उद्धरण में भी कविता ही है, और है कवि के हृदय की भावुकता' जिसके कारण वह सरस हो उठा है। भावुक कविता सदैव सरस और सरल रहती है। परन्तु बाद में भावुकता के साथ साथ धीरे धीरे उत्कट कल्पना का भी जोड़ होते रहने से उनकी भाषा में क्लिष्टता आती गई है। दूसरी बात यह है कि 'विशाख' में उन्होंने अपनी कविस्पृहा को गद्य में नहीं अवतीर्ण होने दिया है। विशाख और चन्द्रलेखा की मरने के समीप वाली बातचीत को छोड़कर सर्वत्र कथोपकथन व्यवहारानुकूल है। गद्य में इतनी कविता भी शायद इसलिये आगई है कि प्रेम स्वयं कवित्वमय है—प्रेम के प्रभाव से परम असंस्कृत और अकवि व्यक्ति भी कवितापूर्ण हो उठता है। बाद के नाटकों में 'प्रसाद' अपनी काव्यप्रेरणा के अधिकाधिक वशीभूत होते गये हैं। वह

गद्य में भी कविता लाने लगे हैं और उन्होंने अपनी कविता को विकट-कल्पना प्रसूत अलंकारों की योजना से जटिल बना दिया है। 'अजातशत्रु' में एक स्थान पर हम पढ़ते हैं "तो मागन्धी, कुछ गाओ। अब मुझे अपने मुखचन्द्र को निर्निमेष देखने दो कि मैं एक अतीन्द्रिय जगत् की नक्षत्रमालिनी निशा को प्रकाशित करने वाले शरदचन्द्र की कल्पना करता हुआ भावना की सीमा को लाँघ जाऊँ, और तुम्हारा सुरभि निश्वास मेरी कल्पना को आलिंगन करने लगे हाँ।" यह कृत्रिम है और कथोपकथन के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। यह शायद सरस कविता के सिद्धान्तों

छमनुष्य के भीतर भावों की अनुभूति की सीमा है, उसकी इन्द्रियों की शक्तियां नियमित हैं। अधिक सुख या दुःख का बोझ पड़ने से लोग प्रायः पागल या बेहोश हो जाते हैं, जिस प्रकार बहुत ज़ोर का शब्द सुनने से मनुष्य कभी कभी बहरा हो जाता है; क्योंकि उतने सुख-दुःख या शब्द को सहन करना मानव इन्द्रियों की शक्ति के बाहर होता है। उदयन प्रेम और आनन्द के अतिशय से पागल हो चला है, इसलिए वह अपने सुख का यथार्थ अनुभव नहीं कर सकता। किसी की आँखों के पास यदि किसी प्रकार सूर्य को ला रक्खा जाए तो, अक्षय ज्योति का भाण्डार सामने होने पर भी, वह अंधा हो जाता है—उसके लिये दिन ही रात्रि हो जाता है। इसी प्रकार, रूपक की भाषा में, पागल के सामने भी भाव-विकलता के कारण उसकी कुंठित संवेदना के लिए एक प्रकार का अंधकार हो हो जाता है—चन्द्रविहीन, नक्षत्रमालिनी निशा उपस्थित हो जाती है। उदयन की भाव-दृष्टि ऐसी ही चन्द्रविहीन अंधकार-पूर्ण परिस्थिति में कुण्ठित होकर मागन्धी के मुखरूपी शरचन्द्र को देखती रहने की कामना करती है जिससे वह अपनी परिमित सीमा के पार हो जाए,

अतिशय आत्मा का आलिंगन कर सकें। जब समुद्र के किनारे पहुंच के भी प्रतिकूल है। क्योंकि, इससे भावसौन्दर्य और आनन्दानुभूति न होकर उलटी खिन्नता होती है। कल्पना की कोई अवधि नहीं है। धीरे धीरे बढ़कर वह असम्भव और उपहास्य की सीमा तक पहुंच सकती है। परन्तु, 'प्रसाद' की समस्त रचनाओं में ऊपर का उद्धृत वाक्य ही शायद सब से अधिक कठिन है, और भाषा की दृष्टि से, नाटकों में भी 'अजातशत्रु' से अधिक कठिन कोई दूसरा नाटक नहीं है। ऊँची कल्पना के अतिरिक्त, क्लिष्टता का दूसरा कारण भावों की आरोपितता है।)

१ क्लिष्टता और साहित्यिकता एक बात नहीं है। कोई रचना

कर हम अपनी शक्ति की सीमा को प्राप्त हो जाते हैं, तो पीछे ही तो जाकर हममें उस सीमा का उल्लंघन कराता है।.....

भावना की सीमा लाँघ जाने पर प्रेम के अतिशय आनन्द में कोमल कल्पनाएँ अवश्य ही जागृत होंगी। जो प्रेमी होंगे उन्हें इसका अनुभव होगा। परन्तु कोमल कल्पनाओं की उत्तेजना के लिए प्रकृति के कोमल वातावरण की भी आवश्यकता है। चाँदनी रात तो है ही। यदि ठंडी ठंडी मलयसमीर भी चलती होती तो कैसा अच्छा होता। मालती के मुख ने चंद्रमा की पूर्ति की है। अब उसी का निश्वास-वायु मलयसमीर भी बने।

ऊपर दिए गए उद्धरण का यही अभिप्राय मालूम होता है। परन्तु निश्वास-वायु में मलयसमीर और गरम लू, दोनों का सम्मिश्रण रहता है। अलंकार के औचित्य की दृष्टि से यह बात खटकने वाली है; पर प्रेमोन्मत्त उदयन शायद गरमी की चिन्ता नहीं करता, वह सौरभ-मात्र से ही संतुष्ट है।

परम साहित्यिक होती हुई भी क्लिष्ट नहीं होती, और कोई अति-क्लिष्ट भी होती है और असाहित्यिक भी। अतएव, जब हम यह कहते हैं कि श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' की शैली साहित्यिक है तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि उसमें क्लिष्टता का आवश्यक गुण वर्तमान है। वास्तव में, उनके सबसे कठिन नाटक 'अजातशत्रु' में दस-बारह स्थलों को छोड़कर अन्यत्र बहुत अधिक क्लिष्ट भाग नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त क्लिष्टता भी सापेक्ष होती है, और ज्यों ज्यों किसी लेखक की शैली का उत्तरोत्तर परिपाक होता जाता है त्यों त्यों वह अधिकाधिक प्रौढ़ पाठकों की अपेक्षा करती जाती है। 'अजातशत्रु' के बाद के नाटकों में साहित्यिक गुण अधिक है परन्तु क्लिष्टता कम है। भाषा के प्रयोग अधिक सिद्ध हैं, कथोपकथन सुविमृष्ट और गंभीर है, पात्रों के भावों में अधिक स्पष्टता है।

भाषा की क्लिष्टता का एक और कारण उसकी वर्धमान तत्समता है। जो 'गर्म' और 'घी' आदि 'प्रसाद' पहले लिख चुके हैं उनके स्थान पर अब वह 'उष्ण' या 'तप्त' और 'घृत' या 'तनूनप' आदि लिखेंगे। अब 'लफंगा' (नागयज्ञ, पृष्ठ २०) की बजाय अधिक शिष्ट और संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है। वाक्य भी अधिकतर पहले से बड़े होने लगे हैं। तत्समता के अनुरोध से, और कुछ विशेष पात्रों की विशिष्टता के कारण, भाषणों में एक प्रकार की ऊर्जस्विता भी उत्पन्न हो जाती है जो आवश्यक रूप से क्लिष्टता तो नहीं लाती परन्तु जिसके प्रथम आवेग में पाठक या दर्शक किञ्चित् विह्वलित-सा होजाता है और भाव-महण में तत्काल समर्थ नहीं होता। हम्हीं लोग, बी०ए०-एम० ए०-पास, जब किसी बहुत तेज और ओजस्वी वक्ता को अंग्रेजी में बोलते सुनते हैं तो उसकी तीव्रता से अभिभूत होकर क्षण भर के लिए विमूढ़-से होजाते हैं।

'प्रसाद' के नाटकों में इस ओजस्विता-सम्पादन का एक प्रयास हम 'सावधान' शब्द के प्रयोग में देखते हैं जो, पहले तो कम, परन्तु 'स्कंद गुप्त' में बहुत अधिक बढ़ गया है। इसमें सन्देह नहीं कि 'सावधान के अतिशय से कहीं कहीं कुछ कृत्रिमता-सी आगई है।

विचार धारा।

श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' की शैली का उनके विचारों से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि इन विचारों का उसके निर्माण में बहुत कुछ उत्तरदायित्व है। हम देख चुके हैं कि उनकी शैली की विशेषता का एक कारण उनके विचारों की दार्शनिकता और भावों की गह नता भी है। अतएव, एक परिमाण में, जैसे जैसे उनके विचार का विकास हुआ है वैसे ही वैसे उनकी शैली का भी विकास हुआ है।

वस्तु-आदर्श की दृष्टि से सुखान्तता तो उनके सब नाटकों में देखने में आती है। 'प्रायश्चित्त' का नायक जयचन्द यद्यपि अन्त में डूब मरता है, परन्तु 'प्रायश्चित' चौदह पृष्ठ की सुखान्तता का एक छोटी सी रचना है और जयचन्द उसक आदर्श-भरतवाक्य एक-मात्र पात्र। एक-मात्रता के कारण ही उसको नायक कह लिया है, अन्यथा उसके द्वारा प्राय श्चित्त कराने की विद्याधरियों की कामना उसकी मृत्यु का साधन भर है। फलस्वाम्य की दृष्टि से यह कामना विद्याधरियों की कह जाए, या जयचन्द की—वह अन्त में पूरी होती है। तथापि, विवा छोड़ कर,'प्रायश्चित्त' में हम जो चाहें समझ लें, 'प्रसाद' के अन्य न टक सुखान्त ही हैं। उनके अधिकांश नाटकों के अंत में भरतवाक का आना इस सुखान्तता का ही एक अंग है।

पहले परिच्छेद में हम दिखा चुके हैं कि सुखान्तता का आदर्श आशावाद की ओर ही झुकता है । संस्कृत नाटकों में 'फलागम' की अवस्था को असंदिग्ध बनाने के लिये ही उन्हें सुखान्त बनाया गया था। उनका 'अवमर्ष' या संघर्ष फलप्राप्ति में एक प्रसंग था । परन्तु 'प्रसाद' के नाटक सुखान्त और अन्त में आशावादी होते हुए भी एक दूसरी प्रकार की भित्ति पर खड़े होते हैं। इन में नायक के सुस्पष्ट फलागम का पता नहीं है, उस 'कार्य' की प्रारम्भिक प्रेरणा नहीं है जिसके लिए तमाम संघर्ष होता है। मानों, व्यक्ति और समाज किसी उद्देश्य से निर्दिष्ट हो ही नहीं सकता, वह सदैव भूला-भटका सा फिरा करता है, फलप्राप्ति तक में वह 'प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है'। इसलिए वह कहीं के लिए चलकर कहीं और पहुँच जाता है, यद्यपि यह 'कहीं और' उनके उद्दिष्ट फल से अधिक श्रेयस्कर होता है।

'प्रसाद' की सुखान्त भावना 'फलागम' नहीं होती

बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' की सुखान्त-भावना प्रायः वैराग्यपूर्ण, अथवा मानव प्रेम से प्रेरित, शान्ति की होती है। यही उनके नाटकों का आदर्श है। यह आदर्श, यह आशावाद, अपने मूल से ही निराशावाद का आश्रित है। अतएव, उनके पात्र किसी सांसारिक उद्देश्य के लिए भयानक संघर्ष में प्रविष्ट होकर उसे प्राप्त करें, चाहे न करें; उन्हें शान्ति अवश्य मिलती है। और, इस अवस्था की सिद्धि के लिए नाटकों में कुछ ऐसे महात्माओं की अवतारणा की रहती है जिनका प्रभाव सार्वभौम होता है। इस परिस्थिति में 'प्रसाद' के नाटक संस्कृत और अँग्रेजी, दोनों, कलाओं से भिन्न हैं। संस्कृत नाटकों में

'प्रसाद' के सुखान्त की वास्तविक भावना

भी कभी कभी महात्मा आजाते हैं परन्तु उनकी शक्ति नेता के सासारिक फलप्राप्ति में ही बाधक होती है। इसी प्रकार पाश्चात्य सुखान्त नाटकों में भी प्राय. जिस उद्देश्य से व्यापार आरम्भ होता है उससे इतर उद्देश्य की साधना के लिए कोई आयास दृष्टिगोचर नहीं होता। 'प्रसाद' के नाटकों को हम अँग्रेजी 'ट्रैजि-कमेडी' के वर्ग में नहीं रख सकते, क्योंकि इनमें निराशा के एक बहुत बड़े और ऊँचे आलम्बन पर अप्राप्य पदार्थ की एक छोटी-सी प्रतिमा ठहराई रहती है। कदाचित् अपनी बहुत ऊँचाई के कारण ही वह हमें छोटी दिखाई देती है। पारिभाषिक शास्त्र शायद इस प्रकार के प्रबंध को स्वीकार न करे, परन्तु हम इसे दूषित नहीं कहते; क्योंकि कभी कभी हम स्वयं उस आधार के सहारे बहुत ऊँचे उठ आते हैं और उस समय नीचे के पदार्थ हमें लघु मालूम होने लगते हैं। कला में आवश्यकता यही देखने की है कि अपने आलम्बनों के सहारे वह हम को भी अपनी उदात्त लक्ष्यभूमि तक ले जाती है या नहीं।

'प्रसाद के सुखान्त का आधार निराशावाद है

अतएव, 'प्रसाद' की योजना में—ध्यान रखना चाहिये, योग में नहीं—निराशावाद ओतप्रोत है। अशान्ति, विरक्ति, वैराग्य—इनमें से एक या अनेक उनके अधिकारी पात्रों के चरित्र-लक्षण हैं राज्य या वैभव की ओर से विरक्ति या अनुत्साह प्रधान राज चरित्रों में प्रायः देखने में आता है। बिम्बसार, हर्ष, स्कन्दगुप्त नरदेव—ये सब, किसी न किसी रूप में, किसी न किसी परिमाण में, राज्य-लालसा की ओर से निरपेक्ष हैं। यहाँ तक कि 'नागयज्ञ' का क्रूर जनमेजय भी कभी कभी कह उठता है—"यह साम्राज्य तो एक बोझ हो गया है।" परन्तु ये सब व्यक्ति एक ही चरित्र के भिन्न भिन्न उदाहरण नहीं हैं। इनमें से प्रत्येक की अपनी अपनी

नवीनता, विलक्षणता, है। बिम्बसार पहले ही से सपत्नीक वाणप्रस्थ ले लेते हैं; सांसारिक वासनाओं से लिप्त नरदेव भी अन्त में परिस्थितियों के कारण सन्यासी हो जाता है। स्कंदगुप्त आर्य-साम्राज्य के उद्धार को अपना कर्तव्य समझ कर बराबर कर्मयुद्ध में सन्नद्ध रहता है, परन्तु बराबर अपने को एक सामान्य सैनिक मानकर—अपने वैभव या सुख की कामना का उसमें लेश भी नहीं है; और, हर्ष तो समस्त आर्यावर्त में एक साम्राज्य स्थापित करके भी अकिंचन बन जाता है सर्वस्व दान करने के बाद प्रव्रज्या लेते लेते रुक जाता है। तितिक्षा का यह भाव स्त्री-पात्रों में भी कहीं कहीं है परन्तु कम, और उसका रूप दूसरा है। वह प्राय. स्त्री-सुलभ औदार्य और समवेदना की प्रवृत्ति है। यथार्थ में, स्त्रियों में, त्याग की अपेक्षा सेवावृत्ति और अनुकम्पा पर अधिक ज़ोर दिया गया है। उनका त्याग अधिकतर इन्हीं गुणों से उत्पन्न होता है, पुरुष की भाँति विरक्ति से कम। जहाँ विरक्ति दिखाई गई है वहाँ स्त्री या तो महत्त्वाभिलाषिणी है या पतिता, जिसे अपने जीवन भर निराशाओं और असफलताओं से मुठभेड़ करते करते अन्त में विराग होने लगता है।

निराशावाद के दो आधार

बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटकों में निराशा या वैराग्य की उद्भूति दो मुख्य उद्गमों से होती है—भाग्यवाद की भावना से, अथवा किसी महात्मा पुरुष के व्यक्तित्व के प्रभाव से। 'प्रसाद' ने, मालूम होता है, भारतीय इतिहास के बौद्ध काल और बौद्ध दर्शन शास्त्र का कुछ अध्ययन किया है, जिसका उनपर प्रभाव पड़ा है। उनके नाटकों में प्रायः एक न एक बौद्ध पात्र रहता है। गौतम, प्रख्यात-कीर्ति और सुएन च्वाँग बौद्ध महात्मा हैं। दूसरे महात्मा यद्यपि बौद्ध नहीं हैं, पर उनकी ध्वनि से भी

मात्स्यवाद का ही निराशामय स्रोत प्रवाहित होता है। वेदव्यास और जरत्कारु 'नियति, नियति' पुकारते हैं, दिवाकरमित्र 'क्षणिक संसार' और 'दुःखपूर्ण धरणी' में केवल 'भगवान की करुणा का अवलम्ब ही शेष' समझता है। समस्त महात्मा पात्रों में केवल प्रेमानन्द ही यह कहता है कि 'वैराग्य अनुकरण करने की वस्तु नहीं' और 'जब तक सुख भोग पर चित्त उनसे नहीं उपराम होता पूर्ण वैराग्य नहीं पाता है'।

सद्वृत्त पात्र इन महात्माओं के उपदेश से और दुर्वृत्त या समार्जित पात्र जीवन की असफलताओं से, इस प्रकार, किसी न किसी रूप में वैराग्य की परिणति को प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि, श्यामा जैसी कुटिलता की मूर्तियाँ भी अन्त में अनुभव करती हैं कि "अपनी परिस्थिति को संयम में न रखकर व्यर्थ महत्त्व का ढोंग मेरे हृदय ने किया, काल्पनिक सुख-लिप्सा ही में पड़ी", और एक निश्वास के साथ कहती है—"वाह री! नियति!" 'नियति', मानो, 'प्रसाद' के नाटक में पात्रों का आप्तवचन है। जो जनमेजय कभी वैराग्य धारण नहीं करता और नृशंस प्रतिहिंसा के वशीभूत हो सदैव क्रूरता के अभ्यास में लगा रहता है वह भी बैठे-बिठाए सर्वत्र नियति के हाथ को देख कर जरत्कारु की प्रतिध्वनि करता हुआ कह उठता है—'मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है'।

निराशा की सुखान्त परिणति

निराशाजनक लोकव्यवहार को इस परिणाम पर लाकर 'प्रसाद' फिर सर्वमंगलकारी आशा की प्रतिष्ठा करते हैं। पात्र मंगलमय जीवन की ओर प्रवृत्त होते हैं, जिसका मूलमंत्र है करुणा और मानव-प्रेम। नरदेव, अजात, विरुद्धक, छलना, श्यामा, प्रसेनजित, मनसा, दामिनी, भटार्क, पुरगुप्त, अनन्तदेवी, और 'राज्यश्री' के दस्यु, विकटघोष

और सुरमा, उदाहरण हैं। परन्तु इस परिवर्त्तन में भी, हम देखते हैं, एक बार निराशा के ही सिद्धान्त को फिर पुष्ट किया गया है। मनुष्य स्वयं अपना सुधार करने में असमर्थ है, इसलिये उसे सदैव एक बाहरी प्रेरणा, बाहरी स्फूर्ति, की आवश्यकता पड़ती है। अधिकांश चरित्रों का शोध उस समय तक नहीं होता जब तक उनका किसी उच्च आत्मा से संपर्क नहीं होता। प्रायः इन आत्माओं के दर्शनमात्र या एक वचनमात्र में ही संशोधन की शक्ति रहती है; उनकी वाणी सुनते ही मनुष्य अभिभूत हो जाता है और उसकी पाशव वृत्तियाँ लुप्त होने लगती हैं। परन्तु, जैसे भी हो, भलाई और बुराई के द्वन्द्व में बुराइयों को दूर होना ही पड़ता है। जो चरित्र शोधातीत होते हैं उनकी अपमृत्यु दिखाई जाती है। सत्यशील, देवदत्त, काश्यप आदि इस प्रकार के चरित्र हैं।

'प्रसाद' के आदर्शवाद का यथार्थ रूप। परमार्थिक आदर्श

यही 'प्रसाद' का आदर्शवाद है। महात्माओं के प्रभाव से, पात्रों के आकस्मिक या अनाकस्मिक परिवर्तन में हमें यथार्थता के पर्याप्त दर्शन नहीं होते। 'प्रसाद' ने इस आदर्शवाद की भित्ति में बड़ी सावधानी से एक एक ईंट को चुन कर बिठाने का परिश्रम किया है। 'विशाख' में इस चुनाव की पहली पद्धति देखने में आती है। इसके बाद जैसे जैसे दीवार उठती चलती है चुनाई, तेज होती जाती है। महात्मा या आदर्श पात्र समस्त सद्-वृत्तियों के आधार-भूत धर्मतत्त्वों को दार्शनिक तर्क के आग्रह द्वारा सिद्ध करते और बोधगम्य बनाते हैं। ये धर्मतत्व सत्व-प्रेरक सिद्धान्त होते हैं। विश्व-प्रेम और करुणा इनका सूत्र है। इन के अंगभूत कुछ अन्य सिद्धान्तों का संकलन करने से मालूम होता है कि—

'जो लोग सत्य पर आरूढ़ रहते हैं विश्वात्मा उनका कल्याण करता है।' (नागयज्ञ, पृष्ठ १०४),

'क्षमा से बढ़ कर और किसी बात में पाप को पुण्य बनाने की शक्ति नहीं है।' (नाग०, ७६),

'संसार भर के उपद्रवों का मूल व्यङ्ग है'। (अजातशत्रु, पृष्ठ १२),

'मनुष्य व्यर्थ महत्व की आकांक्षा में मरता है।' (अजातशत्रु, पृष्ठ ८),

'हमें अपने कर्तव्य करने चाहिएँ, दूसरों के मलिन कर्मों को विचारने से भी चित्त पर मलिन छाया पड़ती है'। (अजात० पृष्ठ ९०),

'प्रमाद—आतङ्क, उद्वेग आदि स्वप्न हैं, अलीक हैं।' (विशाख, ७६),

'हृदय-राज्य पर जो अधिकार नहीं कर सका, जो उसमें पूर्ण शान्ति न ला सका, उसका शासन करना एक ढोंग करना है।' (विशाख, पृष्ठ ७०),

'जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म्म समझ कर करता है, वही ईश्वर का अवतार है' (स्कन्दगुप्त, पृष्ठ १४३), आदि।

जिन तर्कों के द्वारा इन सिद्धान्तों की पुष्टि होती है वे दृश्य पदार्थों की क्षणभङ्गुरता, नियति की क्रीड़ा और 'शुद्धबुद्धि' की निर्लिप्तता के आधार पर हैं। 'शुद्धबुद्धि' की महत्ता और उसके परिज्ञान पर कई नाटकों में जोर दिया गया है। इसके साथ ही साथ

हमको यथास्थान बताया जाता है कि 'इस इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है। सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से संसार की एक ठोकर से निस्सार लगने' लगता है, अथवा 'सच तो यह है कि विश्वभर में स्थान स्थान पर वात्याचक्र है, जल में उसे भँवर कहते हैं, स्थल पर उसे बवंडर कहते हैं, राज्य में विप्लव कहते हैं, समाज में उच्छृङ्खलता कहते हैं और धर्म में पाप कहते हैं।' युक्ति और प्रतिज्ञा के निगमन में हमको पता चलता है कि 'जिसे काल्पनिक देवत्व कहते हैं वही तो सम्पूर्ण मनुष्यता है' और 'इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा।

यह स्वाभाविक है कि तर्क और युक्ति की इस प्रणाली में ज्यों ज्यों लेखक अपने पक्ष को अधिकाधिक पुष्ट करने की आवश्यकता बढ़ाता जाएगा त्यों त्यों उस के शास्त्रार्थों की गहनता और तदुचित जटिलता भी बढ़ती ही जाएगी। और, इस तर्क-प्रणाली में कविता और कल्पना का सहयोग उस जटिलता को और अधिक दुर्बोध बना देता है। 'प्रसाद' भी शायद इस बात को जानते हैं। उनका अर्जुन श्रीकृष्ण से कहता है—"तुम तो सखे, न जाने कैसी बातें करते हो जो समझ में नहीं आतीं।"

इतर आदर्श

कभी कभी पाठक का भी मन लेखक से यही कहने को उत्सुक हो जाता है। परन्तु जहाँ पारमार्थिक आदर्शों की विवेचना नहीं है, दूसरे आदर्शों की विवेचना है, वहाँ दार्शनिकता की अपेक्षा भावुकता ही अधिक है; और ऐसे स्थल विशेष हृदयग्राही हो गए हैं। नाटककार ने २. सांसारिक व्यवहारों के भिन्न भिन्न आदर्शों पर भी कहीं कहीं प्रकाश डाला है। इनमें विशेष रूप से सामाजिक और जातीय

अवस्थाओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह हृदय का बड़ा निकट-स्पर्श करता है और बहुत देर के लिए अपना दर्द छोड़ जाता है। इस कथनों में कहीं स्वाभाविक कटुता

सामाजिक

और व्यंग्य है और कहीं सरल हृदय की आर्द्र पूर्ण लगन। बंदीगृह में राज्यश्री के ऊपर पहरा देता हुआ भरदत्त कहता है—

"कौन नहीं कहेगा कि महत्त्वशाली व्यक्तियों के सौभाग्य-अभिनय में धूर्तता का बहुत हाथ होता है। जिसके रहस्य को सुनने से रोम-कूप स्वेद-जल से भर उठें, जिसके अपराध का पात्र कलंक रहा है, वही समाज का नेता है। जिसके सर्वस्वहरणकारी करों से कितनों का सर्वनाश हो चुका है वही महाजन है, जिसके दंडनीय कार्यों का न्याय करने में परमात्मा को समय लगे वही दंडविधायक है। यदि किसी साधारण मनुष्य का वही कार्य होता जो महाराज देवगुप्त ने किया है तो वह चोर, लम्पट और धूर्त आदि उपाधियों से विभूषित होता। परन्तु उन्हें कौन कह सकता है ?"

'स्कंदगुप्त' में पर्णदत्त देवसेना से कह रहा है—

" अपना ! देवसेना ! अन्न पर स्वत्व है भूखों का; और धन र स्वत्व है—देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम [illegible]रों के लिए रख छोड़ा है। वह थाती है, उसे लौटाने में इतनी [illegible]टिलता ! विलास के लिए उनके पास पुष्कल धन है, और दरिद्रों [illegible] लिए नहीं ? अन्याय का समर्थन करते हुए तुम्हें भूल न जाना [illegible]हिए कि ......।"

इसी प्रकार लेखक ने सामाजिक रूढ़ियों के प्रति भी कहीं [illegible]हीं अपना विरोध प्रकट किया है। ब्राह्मणत्व के मिथ्या अभिमान

का, पतित काश्यप ज्वलन्त उदाहरण है। उसके कार्यों द्वारा इस जाति का जो सामाजिक और राजनैतिक हास हुआ, 'नागयज्ञ' के अंतिम दृश्य से उसका अनुमान होता है। अर्थहीन ब्राह्मणिक कर्म-काड का त्रिविक्रम् द्वारा अच्छा उपहास कराया गया है। एक सज्जन कहते थे कि 'नाग-यज्ञ' में लेखक के ब्राह्मण-द्वेष के चिन्ह मिलते हैं। परन्तु यह बात नहीं है। लेखक केवल कुछ निरर्थक, हानिकर रूढ़ियों का विरोध करता है। काश्यप के मुकाबले में व्यास जैसे ब्राह्मण भी हैं जिनकी दिव्यता और शक्ति महान् है। इनके द्वारा, एक प्रकार से, ब्राह्मणत्व के उत्कर्ष ही की प्रतिष्ठा की गई है। ब्राह्मण का सच्चा स्वरूप उसका चरित्रबल और उसकी गम्भीर ज्ञान-गरिमा है। उसके लिये अंधरूढ़ियाँ निर्जीव और निःसार हैं। व्यास जैसे कालदर्शी महात्मा केवल विकास की एक परम्परा में उनकी उपयोगिता मानते हैं। अतः, जनमेजय का प्रबोध करते हुए वह कहते हैं—"फिर भी तुमने यज्ञ किया ही। किन्तु जानते हो, यह मानवता के साथ ही साथ धर्म का भी क्रम-विकास है। यज्ञों का कार्य हो चुका। बालक सृष्टि खेल कर चुकी। अब परिवर्तन के लिये यह कांड उपस्थित हुआ है। अब सृष्टि को धर्म-कार्यों में विडम्बना की आवश्यकता नहीं।"

जातीय स्वाभिमान और देश-प्रेम की भावनाओं का नाटककार ने उपयुक्त पात्रों द्वारा बड़ा सुन्दर उद्‌गार कराया है। नाग-पत्नी सरमा आर्यों द्वारा अपमानित की गई है। उसके पुत्र माणवक का भी अपमान हुआ है। अपने को श्रेष्ठ समझने वाली आर्यजाति की इस विडम्बना पर उबलता हुआ पुत्र अपनी माता को प्रबोधना करता है—"माँ! इन दम्भियों में कौनसी विशेष मनुष्यता है जो तुम अपना राज्य छोड़ कर इनसे तिरस्कृत होने के लिए चली

जातीय

भाई हो? अपना अपना ही है। एक टुकड़े के लिए दूसरे की ठोकर सहना। दारिद्र्य की विकट ताड़ना से, श्रोह—" वह प्रति हिंसा के संकल्प से जल रहा है, प्रतिशोध के लिए कटिबद्ध है, धर्मदिग्गों के वक्र विलोचन' उसे 'बरछी की तरह लग रहे हैं।' .

नागजाति उस समय आर्यों की पददलित थी। स्थान स्थान पर नागों का संहार हो रहा था। परन्तु वे अपनी स्वतंत्रता के लिए, अपने स्वत्वों के लिए, मर मिटने पर तुले हुए थे। यही उनका सर्वश्रेष्ठ पौरुष था। वे जानते थे कि 'जिस दिन वे मरने से डरने लगेंगे, उसी दिन उनका नाश होगा। जो जाति जब तक मरना जानती रहेगी, उसको तभी तक इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार रहेगा।'

'स्कंदगुप्त' तो, मानो, जातीयता और देशप्रेम की जीती-जागती मूर्ति ही है। नायक स्कन्दगुप्त देश के लिए बलिदान होने वालों का उज्ज्वल आदर्श है। आर्य-भूमि का दस्युओं, लुटेरों, से उद्धार करना ही उसका जीवन-व्रत है। वह स्वयं सम्राट बनना नहीं चाहता। देश का उद्धार कर लेने के बाद भी वह अपने भाई के लिये साम्राज्य का उत्सर्ग करने को तैयार है। मालव के राजा बंधुवर्मा का देशप्रेम भी कम उज्ज्वल नहीं है। आर्य-साम्राज्य के सुदृढ़ निर्माण के लिए वह अपना राज्य समर्पित कर देता है और अन्त में विदेशियों से युद्ध करता हुआ अपने प्राण छोड़ता है। अधिकतर, नाटक के प्रधान पात्र जातीयता और देशप्रेम की ज्योति में ही सब कुछ देखने और करते हैं—क्योंकि, उनसी जाति, हमारी जाति—जातियों की मुकुटमणि है। विदेशी धातुसेन, लङ्का का राजकुमार, उसकी महिमा का उपासक है। लङ्का के

राजश्रमण, अख्यातकीर्ति, को तो यह देश तीर्थभूमि ही है। काश्मीर-निवासी निरत-कवि मातृगुप्त के साथ साथ हम गाते हैं—

> वही है रक्त, वही है देश वही साहस है, वैसा ज्ञान
> वही है शान्ति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य-सन्तान
> जियें तो सदा इसी के लिए यही अभिमान रहे यह हर्ष
> निछावर करदें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष।

कुछ समय हुआ एक सज्जन ने—शायद 'प्रेमचन्द' थे—'माधुरी' में 'स्कन्दगुप्त' के ऐतिहासिक प्लॉट की आलोचना करते हुए 'गड़े मुर्दे उखाड़ने' की निर्थकता पर रोष प्रकट किया था। जो बात अतीत हो चुकी उस की चर्चा ही क्या? हमको अपनी वर्तमान समय की समस्याओं पर दृष्टि डालनी चाहिए—अपना वर्तमान धड़कन और तड़पन को टटोलना चाहिए। मानते हैं इसे। परन्तु, मालूम होता है, काव्य में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के मर्मस्पर्शी साक्षात्कार की महत्ता को आलोचक नहीं समझता। ध्वनि या व्यञ्जना का उस के लिए कोई मूल्य नहीं है। अर्थात्, हृदय की धड़कन जानने के लिए 'स्टेथस्कोप' के बिना काम ही न चलेगा, मुखाकृति में चाहे कितनी ही मूक वेदना भरी हो। अन्यथा, 'स्कंदगुप्त' का प्लॉट 'गड़ा मुर्दा' न समझा जाता। हमारी समझ में, राय का 'मेवाड़पतन' और 'प्रसाद' का 'स्कंदगुप्त' भारतीय साहित्य के दो सर्वश्रेष्ठ जातीय नाटक हैं। 'स्कंदगुप्त' तब तक बराबर सामयिक रहेगा जब तक भारत का स्वातंत्र्य-युद्ध सफल नहीं होता। उस के बाद वह हमारे इस युद्ध के इतिहास का एक उज्ज्वल अंग समझा जाएगा।

शैली और विचार के इतने अध्ययन से हम को 'प्रसाद' की कला में देश और काल के प्रभाव का थोड़ा पता लग जाता है।

शैली की दृष्टि से वह धीरे धीरे प्राचीनता से अर्वाचीनता की ओर स्पष्ट रूप से आए हैं। 'सज्जन' और 'एक घूँट' उन के विकास के दो सिरे हैं—एक पूर्व की ओर, दूसरा पश्चिम की ओर। विचार की दृष्टि से, जो समय का प्रभाव क्रमशः उनके ऊपर पड़ा है वह हमने अभी देखा है। उन का आदर्शवाद, प्राचीन के प्रति श्रद्धा दिखाता हुआ भी, अपना अलग एक अस्तित्व रखता है। उनकी दार्शनिकता काव्य-रचना के सिद्धान्तों में एक मौलिक तथा नवीन तत्व की स्थापना करती है जिसमें कुछ-कुछ अतिरञ्जना आगई है। इस दार्शनिकता का आधार भारतीय आचार-नीति है।

रहस्यवाद

विचारधारा का अध्ययन करने के बाद रहस्यवाद का प्रश्न स्वाभाविक रूप से ही हमारे सामने उपस्थित होता है। एक प्रकार से दोनों प्रश्न एक दूसरे से कुछ-कुछ संबद्ध भी हैं। परन्तु विचारधारा के अन्तर्गत इसकी गणना न करने का कारण यह है कि विचार मस्तिष्क की एक क्रिया है और रहस्यवाद एक प्रकार की शुद्ध आत्मानुभूति—या, बाद में, एक प्रकार की विकृत भावुकता—है।

रहस्यवाद के दो रूप

दोनों के उद्गम भिन्न हैं, यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि धीरे-धीरे दूसरी प्रकार का रहस्यवाद हृदय से हटकर एकान्त मस्तिष्क की वस्तु बनने लगता है। परन्तु फिर भी विचार-तत्व से उसका भेद रहता है क्योंकि विचार मस्तिष्क का, उसके स्वाभाविक विकास के अनुपातानुकूल, स्वतः-प्रवर्तित और अयत्नसाध्य परिणाम है। इसके विपरीत, दूसरा रहस्यवाद कष्टसाध्य विदग्धता द्वारा किया गया मस्तिष्क के ऊपर हृदय का कृत्रिम आरोप है। इस प्रकार का रहस्यवाद वास्तविक रहस्यवाद का नैसर्गिक रूप नहीं है, बल्कि वर्तमान हिन्दी कविता

में जो एक नया आन्दोलन चल पड़ा है उसी के लिए रहस्यवाद के भी इस नए रूप की कल्पना की गई है। धीरे धीरे कोई कोई विद्वान् यह समझने लगे हैं कि जो एकदम भाव और अर्थ से शून्य हो, जिसका अभिप्राय स्वयं कवि भी न समझता—न समझ सकता—हो, वर्तमान धारा में वही कविता रहस्यवादी है।

'प्रसाद' के सम्बन्ध में रहस्यवाद का प्रश्न उठाने की आवश्यकता न पड़ती यदि सर्वत्र यह प्रसिद्धि न होती कि वह आधुनिक रहस्यवाद के मूल प्रवर्तक हैं। मालूम नहीं कि यह प्रसिद्धि दूसरों के ही विज्ञापन की प्रसूति है अथवा 'प्रसाद' स्वयं भी अपने सम्बन्ध में ऐसा ही समझते हैं। जो हो, प्रश्न विचारणीय हो गया है।

रहस्यवाद के साथ साथ एक दूसरे शब्द 'छायावाद' का भी प्रयोग किया जाता है। ये दोनों शब्द पर्यायवाची समझे जाते हैं और अँग्रेजी शब्द 'Mysticism' के अनुवाद हैं। रहस्यवाद अपने मूल प्रयोग में, एक प्रकार की भावना या आन्तरिक अनुभूति का नाम है, जिसमें मनुष्य सृष्टि के पदार्थों की प्रेरक एक नित्य सामान्य सत्ता की खोज करता है और उसके साथ साक्षात् संसर्ग की अनुभूति प्राप्त करना चाहता है। नदी, पर्वत, आकाश, स्वयं जो कुछ हों, रहस्यवादी के लिए वे उस परम सत्ता के द्योतक हैं जिसके शक्ति-सौन्दर्य का वे स्वयं एक प्रकाश हैं। आपके डबल-ब्रेस्ट कोट के सुन्दर काट-छाँट को देख कर हम आपसे पूछते हैं कि यह किस दर्जी का बनाया हुआ है, वह कहाँ रहता है, आदि। इसके अनन्तर, उसकी कला से चकित होकर हम अपनी मुग्धता की स्वाभाविक भावना में अपने-आप

प्रकृत रहस्यवाद

उसके पास खड़े होने का अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार रहस्यवाद दो पक्षों में विभाजित हो जाता है—पहला जिज्ञासामूलक जिसमें खोज रहती है, और दूसरा भावनामूलक जिसमें विश्वात्मा का वास्तविक साक्षात्कार होता है। अपने इस व्यावहारिक पक्ष में रहस्यवाद जीवों के जीव, विश्वात्मा, के साक्षात्कार की सम्भावना प्रतिष्ठित करता है। पर यह साक्षात्कार किन्हीं बाह्य उपकरणों के रूप में नहीं होता, जैसे प्रार्थनाओं का उत्तर पाना, आदि; वरन् वह एक परमानन्दरूप अभिनिवेश या तादात्म्य के स्वरूप में होता है जब कि व्यक्ति, यथार्थ में, परमात्म-सत्ता का ही अंशभाक् हो जाता है। ईश्वर तब कोई पदार्थ या वस्तु नहीं रहता; वह केवल एक निष्क्रिय अनुभूति-मात्र रह जाता है। काव्य का रहस्यवाद इन दोनों पक्षों को ग्रहण कर सकता है—एक में वह हृदय की तड़पन और मदन का आश्रय लेगा और दूसरे में शान्त भाव का पोषक होगा। परन्तु विश्वात्मा की भावना को लेता हुआ भी वह विश्वात्म-धर्म या अद्वैत-धर्म से भिन्न है। क्योंकि; धर्म, मनुष्य को सामने रखकर, सदा एक समस्या को हल करने में लगा रहता है और नैतिक आधारों पर अपने शास्त्र का विस्तार करता है। रहस्यवाद का उदय ही विश्वात्म-भावना से होता है जिसमें मनुष्य की नैतिक समस्याओं का कोई सम्पर्क नहीं होता और जो प्राकृतिक अवस्थाओं की लाक्षणिकता से प्रेरित हो तादात्म्य की आत्मानुभूति कराता है। एक प्रकार से कह सकते हैं कि धर्म लोकायत होता है, रहस्यवाद की इयत्ता व्यक्ति तक ही रहती है, धर्म भविष्य की ओर लक्ष्य करता है, रहस्यवाद वर्तमान में ही अनिर्वाच्य सम्मिलन की आशा करता है। धर्म जिस संयोग को इच्छाशक्ति के वशीकरण और सम्पूर्ण जीवन के नैतिक संगठन द्वारा प्राप्य समझता है, रहस्यवाद में वही एक निश्चेष्ट संवेदना-मात्र रह

जाता है जो क्षण-क्षण में आती जाती रहती है। अतएव उस काव्य को रहस्यवादी कहना भ्रान्त होगा जो विश्वात्म-सिद्धान्त की विवेचना करता है और अनुभूति की भावना से शून्य होता है।

रहस्यवाद ही की परम्परा का अनुसरण करने वाली साहित्य में एक और प्रवृत्ति भी देखने में आती है जो Symbolism है। इसे हम 'संकेतवाद' या 'प्रतिविम्ब-वाद', अथवा यदि चाहें तो 'छायावाद' भी, कह सकते हैं। हिन्दी में Mysticism और Symbolism के प्रभेद को दृष्टिगत न रख कर 'रहस्यवाद' और 'छायावाद' का प्रायः समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है। परन्तु दोनों में सब से बड़ा भेद शायद यह है कि एक तो एक प्रकार की सात्विक आत्मानुभूति का नाम है और दूसरा एक विशेष ढंग की रचना-प्रणाली है जिसमें प्रकृत के द्वारा किसी अप्रकृत का संदेश रहता है। आवश्यक नहीं कि अप्रकृत विश्वात्मा हो और 'छायावाद' सृष्टि के पदार्थों की एकता का अनुभव ही करे। संकेतवादी प्राकृतिक पदार्थों को देखकर उनके संकेत, प्रतिविम्ब, या छाया को ढूँढ़ने की चेष्टा करता है। सृष्टि में प्रत्येक वस्तु कुछ न कुछ अभिप्राय रखती है, उसका हमारे लिए कोई संदेश है, वह हमारे जीवन की किसी न किसी अवस्था या वृत्ति का दूसरे रूप में प्रतिविम्ब है। उसी अभिप्राय या संदेश को समझना, प्रतिविम्ब को ग्रहण करना, संकेतवाद या Symbolism का उद्देश्य रहता है। इस कारण से, संकेतवाद प्रायः आदर्श की ओर झुका करता है। 'शकुन्तला' नाटक में आया हुआ श्लोक,

संकेतवाद या छायावाद

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।

तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ॥"

संकेतवाद का उदाहरण नहीं है क्यों कि इसमें बहुत अधिक स्पष्ट कथन है जो तत्त्वावलोकन की ओर बढ़ जाता है। परन्तु इसमें हमें मनुष्य की उस मानसिक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है जो सांकेतिकता के मूल में है।

संकेतवादी कवि इस संकेत को ग्रहण कर स्वयं भी उसका संकेत ही करता है। कभी कभी इस प्रयास में वह इतना निगूढ़ हो चलता है कि संकेत के लिए अपने प्रकृत व्यापारों की अवज्ञा भी करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसके संकेत अमूर्त और अविस्पष्ट होने लगते हैं और उनका समझना साधारण समझ वाले का काम नहीं रह जाता। इब्सेन के बाद के नाटकों में वस्तु-व्यापार के भीतरी अभिप्रायों की व्यञ्जना बराबर गहन होती जाती है और इसके परिणाम-स्वरूप उसके अभिप्रेत संकेतों से वास्तविक कथा-दृश्यों के विच्छेद की आशङ्का अधिकाधिक बढ़ने लगती है।

यथार्थ में, संकेतवादी एक कहानी कहता है जिसको साधारण पाठक उसके प्रकृत अर्थ में समझ कर अपना मनोरञ्जन कर सकता है, परन्तु जिसमें सूक्ष्म परिशीलक एक आनुषंगिक अभिप्राय का आभास भी पा लेता है। संकेतवाद का सच्चा और उपयोगी रूप है भी यही। संकेत के लिए प्रयत्न की उपेक्षा करना सरस और भावमयी कविता का लक्षण नहीं है। सांकेतिकता प्रायः किसी प्रबन्ध की पूरी वस्तु के आरंभ से अन्त तक रहती है, अर्थात् प्रबन्ध की पूरी वस्तु ही सांकेतिक होती है, अथवा

वह उसके कुछ अंशों में, कभी कभी केवल एक पद्य या वाक्य में ही, रह सकती है। परन्तु अधिकतर समस्वस्तुव्यापी संकेतवाद ही आज कल के साहित्य में देखने में आता है।

सांकेतिकता का एक दूसरा प्रकार रूपक-रचना (Allegory) है। दोनों प्रकार की रचनाओं का सिद्धान्त और उद्देश्य लगभग एक ही है। परन्तु रूपक-रचना में प्राय ऐसे ग्रन्थों का भी समावेश होजाता है जिन में अप्रकृत को ही प्रकृत मान कर मानव प्रवृत्तियों तथा आचार और नीति के परिचित गुणों में ही मनुष्यता का आरोप कर दिया जाता है और उन्हीं को कथा के पात्र बनाया जाता है। इस भाँति सुरेश और कमला के स्थान में क्रोध और करुणा हमारी कथा के पात्र होते हैं। इस प्रकार की रचनाओं में अप्रकृत वस्तु के प्रकृत अभिप्राय द्वारा मानव हृदय के भीतर भिन्न भिन्न वृत्तियों के द्वन्द्व का संकेत किया जाता है जो साधारण संकेतवाद का प्रकृत है। आदर्श या उपदेश की दृष्टि से सद्वृत्तियों की दुर्वृत्तियों के ऊपर विजय दिखाई जाती है। सामान्य संकेतवाद में भी आदर्श की ओर दृष्टि रहती है, परन्तु उस में संकेत को इतना स्पष्ट नहीं बनाया जाता कि उपदेश की गंध देने लगे। यूरोप में मध्य-काल (तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियाँ) की रचनाएँ अधिकतर इसी तरह की हुआ करती थीं और वे Morality plays (नीति-नाट्यों) के नाम से परिचित हैं।

रूपक-रचना—
नीति-नाट्य

वर्तमान हिन्दी में 'छायावाद' या 'रहस्यवाद' का नाम कैसे आया? जिस प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों ने हिन्दी नाट्यकारों को एक विशेष ढँग से प्रोत्साहित किया था उसी प्रकार

आधुनिक छाया-वाद का आरम्भ श्रीयुत रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'गीताञ्जलि' प्रभृति काव्य-संग्रहों ने हिन्दी कविता को किया। राय ने तो हमारे मनोवेगों और सुप्त कल्पनाओं को प्रताड़ित करके स्वाभाविक रूप में ऐसा किया था परन्तु टैगोर का प्रभाव कृत्रिम था—एक प्रकार से, यह प्रभाव उनके नोबेल पुरस्कार का था। हिन्दी में उनके अनुकरण के ग्रन्थ बनने से पहले हिन्दी वालों ने उनकी कविता का कोई विशेष अध्ययन नहीं किया था। अध्ययन तो अभी तक भी नहीं हुआ है। उनके कहानी-उपन्यास और निबंधों के अनुवाद तो हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं, परन्तु उनकी कविता और छोटे नाटकों के नहीं। 'मुक्तधारा' आदि जो एकाध कहीं से निकले भी हैं वे प्रचलित नहीं हुए। इस क्षेत्र में मौलिकता ही अधिक वाञ्छनीय अथवा सुसाध्य समझी गई। इस प्रकार की 'हृदयतरङ्ग' नामक एक पुस्तक हमने सब से पहले देखी थी जो, तेरह-चौदह वर्ष हुए, छपी थी। उससे पहले कोई और छपी हो तो पता नहीं। 'हृदय-तरङ्ग' की कृत्रिम भावना और उसके उद्गार अस्वाभाविक हैं।

बर्नार्ड शॉ ने अपने एक उपन्यास की भूमिका में एक भयानक गर्वोक्ति करते हुए लिखा है कि—यदि मैं, एक निर्धन पिता का लड़का, केवल अपनी आकर्षण-शक्ति के कारण इतना ऊपर चढ़ गया तो इसमें दूसरे किसानों के लड़के यह समझने की भूल न करें कि वे भी अपनी निम्नस्थिति को ऊपर चढ़ने की पहली सीढ़ी बना सकते हैं। दूसरे किसानों के लड़के बर्नार्डशॉ बन सकें या न बन सकें, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि अस्पष्टता, या अनुभव में शून्य कृत्रिम 'अनन्त,' टैगोर-पद की सीढ़ी नहीं है। 'सुधा' की किसी पिछली संख्या में 'अनन्त की ओर जी' का एक व्यंग्य-चित्र

निकता था, जिसमें विचित्रभूषाविभूषित '०ओर जी' आकाश में अपनी गर्दन उठाये हुए अपनी प्रलम्बमान बाहु-यष्टि से अनन्त की ओर संकेत कर रहे हैं। यदि आसमान को नाप लेने भर से अनन्त मिल जाता है, तो, निश्चय जानिये, हम तथा हम से अन्य अनन्त लोगों ने अब तक उससे अवश्य मुलाकात कर ली होती। परन्तु कठिनता यह है कि दूसरे लोग कहते हैं—

'मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।'

अथवा,

'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव, कहौं केहि रोई॥'

गरदन के साथ दोनों आँखों वाले सिर की पुडिया बना कर उसे हृदय के भीतर किस तरह पहुँचाया जाएगा?

'अनन्त' की असम्भावित छाया से जो संकुलता और भाव तथा अर्थ की अस्तव्यस्तता उत्पन्न हुई, कुछ दिनों बाद वही वर्तमान छायावाद का लक्षण बन गई। इससे छायावाद का एक दूसरा रूप उपस्थित हो गया, जिसमें न तो नवीन रहस्यवाद की विडम्बक संकुल अनन्तता रही और न संकेतवाद की प्रतिविम्ब-ग्रहण-चेष्टा। सच-मुच मे प्रतिविम्ब-ग्रहण की चेष्टा तो वर्तमान हिन्दी साहित्य में कभी भी नहीं हुई, क्योंकि उसके आदर्श के लिए हिन्दी लेखकों को आधुनिक प्रतिमाएँ ही नहीं मिलीं। अपने परिवर्तित रूप में हिन्दी का छायावाद कुछ विकल और अस्पष्ट उपमाओं, रूपकों या उत्प्रेक्षाओं का रूप रह गया। 'इन होक से तारों को, कर चूर, बनाया प्याला' में प्याला क्या है और तारों को चूर करने में कौनसी वेदना या झुँझलाहट भरी है, इसका पता लगाना कठिन है।

'मृदुल मुकुलों का मीनागार' में मुकुलों की इशारेबाज़ी का—बन्द द्वार में मुकुल इशारेबाज़ी भी नहीं करते—क्या संदेश है? 'तुम्हारी आँखों का आकाश' से क्या हम यह समझें कि 'तुम्हारी आँखें' आसमान के समान बड़ी और शून्य हैं, या यह कि 'मेरे लिए' वही सम्पूर्ण वातावरण बन गई हैं और उनकी 'सरल कोनों में उषा-विकास' देखकर मेरा (हृदय-रूपी) 'खग अनजान' खोजने निकला निभृत निवास ?' क्या मतलब ? मेरा हृदय निवास चाहता था—तु—तुम्हारी आँखों में: अर्थात् तुम मुझको (या मेरे 'खग अनजान' को ?) सदा देखती रहा करो ?

इस कविता में रहस्य या प्रतिबिम्ब-ग्रहण कुछ नहीं है ; केवल अस्पष्टता है—तुलना आदि के लिए चुने हुए अप्रयुक्त और अप्रयोज्य नए नए स्वकल्पित उपमानों के कारण। तुलना आदि का मूल अभिप्राय है, भाव-सौकर्य। यदि मैं साधारण रूप से अपनी शिरः-पीड़ा का आपको ठीक ठीक अनुमान कराने में असमर्थ हूँ तो मैं कहूँगा—'मेरे सिर में ऐसा दर्द हो रहा है जैसे किसी ने बरछी भोंक दी हो।' इसके अनन्तर, तुलना द्वारा हम भाव-सौन्दर्य उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। परन्तु जैसी कविता के उदाहरण दिए गए हैं उसमें भाव-सौकर्य तो है ही नहीं, और समझ में न आ सकने के कारण सौन्दर्य का भी यथावत् अनुभव नहीं हो पाता, वह 'सद्यःपरनिर्वृति' नहीं होती जो कविता का प्राण है। पर साथ ही, यह कविता किसी भाव या भावुकता से सर्वथा शून्य है, यह कहना भी भ्रम है। केवल, मस्तिष्क की उत्तेजित और अविरस्थित चेतना में हृदय इतना प्रच्छन्न हो गया है कि उसके यथार्थ रूप को देख पाना दुःसाध्य हो जाता है। ऐसी कविता को आधा घंटा सोचने से अर्थ अवश्य कुछ न कुछ निकल

आएगा ; परन्तु वह कवि का अभिप्रेत अर्थ होगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता। सहज सरसता के अभाव में कवि का हृदय पाठक के हृदय से नहीं मिल सकता जो कविता के उद्देश्य के लिए विघातक है।

आजकल की कविता में अस्पष्टता और छायावाद का घनिष्ठ पारस्परिक सम्बन्ध हो जाने के कारण ही कहीं कहीं यह प्रश्न उठा है कि 'प्रसाद' के नाटक छायावादी हैं। 'प्रसाद'

'प्रसाद' और

अपनी अस्पष्टता के लिए इतने प्रसिद्ध (या आधुनिक छायावाद बदनाम ?) हो गए हैं कि जब एक नए सम्पादक एक विद्वान् के पास अपनी पत्रिका के लिए सम्मति माँगने गए तो उनको सलाह दी गई कि—आप अपनी पत्रिका की नीति के लिए 'उग्र' और 'प्रसाद' के मध्य का मार्ग ग्रहण कीजिये। अभिप्राय यह था कि जिस प्रकार 'उग्र' बेहद समझ में आते हैं, यहाँ तक कि, यदि पशु हिन्दी भाषा पढ़ सकते तो वे भी उन्हें समझ लेते, उसी प्रकार 'प्रसाद' इतने जटिल हैं कि पढ़े-लिखों के भी काबू में नहीं आते। 'प्रसाद' की जटिलता, सम्भव है, इतनी बढ़ गई हो, परन्तु हमारा विचार है कि फिर भी वह छायावादी नहीं है। उनकी कहानियाँ या कविताएँ चाहे कुछ हों परन्तु उनके नाटक छायावादी नहीं हैं। उनमें जटिलता अवश्य है, परन्तु अस्पष्टता नहीं। यदि कहीं सोचना पड़ता है तो सोचने के बाद अभिप्रेत अर्थ समझ में भी आ जाता है। दूसरी बात यह है कि उनकी जटिलता या तो शास्त्रार्थ की है या सरस भाषा में अलङ्कार प्रयोग करने की। परन्तु शास्त्रार्थ की कठिनता के कारण हम दार्शनिक ग्रन्थों को, या पंडितराज के 'रसगंगाधर' को वर्तमान छायावाद के उदाहरण नहीं समझते। भाषा और शैली की दुरूहता

के कारण संस्कृत का गद्यकाव्य 'वासवदत्ता' छायावादी नहीं हो गया। यह प्रश्न दूसरा है कि नाटक में इतनी दार्शनिकता या जटिलता को हम चाहते हैं या नहीं, परन्तु 'प्रसाद' ने मस्तिष्क के ऊपर हृदय के मिथ्या आरोप की चेष्टा नहीं की है। प्रस्तुत समस्याओं का उनके नाटकों में अभाव है। प्रच्छन्नता तभी उत्पन्न होती है जब लेखक अपने भावों को समझने में स्वयं कोई त्रुटि करता है, या जब वह उनको ठीक ठीक समझ नहीं पाता।

'प्रसाद' परम भावुक कवि हैं और उनकी भावुकता हृदय को तत्क्षण छूने वाली है। अजात का अपने पिता से क्षमा माँगने का दृश्य, दामिनी का अपने पति के पैरों में गिरना, आर्य-साम्राज्य के हित के लिए बंधुवर्मा का अपना राज्य अर्पण करना—ये सब क्या काव्य की अस्थायी सम्पत्ति हैं? श्यामा, वारविलासिनी जब अपने प्यारे की विनती करती हुई गाती है—

> अहा रही है कहीं कोकिला,
> कहीं पपीहा पुकारता है।
> यही विरह क्या तुम्हें सुहाता?
> कि नील नीरद सदय नहीं है॥

तो उस के गाने में उस के हृदय का वास्तविक क्रन्दन क्या हम से छिपा रहता है? पति की उपेक्षिता पद्मावती वीणा बजाने बैठती है, परन्तु वीणा बजे कैसे? उँगली तो चञ्चल है परन्तु, हृदय ····? तब, वह उस का उद्बोधन करती है—

> 'चमर उँगली अरी ठहर जा,
> क्षण भर अनुकम्पा से भर जा।

इस सब में कहाँ छायावाद है ? जहाँ भावुकता इतनी स्पष्ट और तीव्र है वहाँ किसी अर्थहीन संकुलता का भ्रम ही कैसे उत्पन्न हो सकता है ? 'अजातशत्रु' नाटक का परम दार्शनिक पात्र बिम्बसार भी जब अँधेरी रात की नक्षत्रमाला में मनुष्य की भाग्य-लिपि पढ़ता है तो मात्र रूपक के प्रकृत और अप्रकृत द्विधा होकर अलग अलग दिखाई देने से रह नहीं जा[illegible] तथापि, यदि एकाध स्थल पर हम को कोई ऐसी उक्तियाँ मिल जाएँ जिन में छायावाद की प्रवृत्ति दिखाई देती हो तो [illegible] कारण हम तमाम नाटक या नाटकों को छायावादी कह[illegible] दूषित नहीं कर सकते ।

'प्रसाद' और प्रकृत रहस्यवाद

यह तो हुई आधुनिक रहस्यवाद या छायावाद की [illegible] हम देखते हैं कि मूल रहस्यवाद या छायावाद की [illegible] विशेष प्रेरणा 'प्रसाद' के नाटकों में [illegible] नहीं होती। 'कामना' और 'एक घूँट' [illegible] कर उन के अन्य सब नाटक ऐतिहासि[illegible] परन्तु 'कामना' और 'एक घूँट' उनकी [illegible] क्रियाशीलता के प्रतिनिधि नहीं हो सकते—वे केवल विविध प्र[illegible] रचना-पद्धतियों के प्रति लेखक के प्रयासौत्सुक्य को प्रकट करते हैं वैसे तो 'प्रसाद' ने एक गीति-नाट्य भी लिखा है ।

प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों की वस्तु सुश्रृंखल औ[illegible] सुस्पष्ट है और प्रकृत विषय को छोड़ कर अप्रकृत की कहीं भ[illegible] आकांक्षा नहीं करती । कहीं भी लेखक का, या नाटकों के कि[illegible] पात्र का, विश्वात्मा के प्रति ऐसा संकेत नहीं है जिससे [illegible] के भिन्न भिन्न सौन्दर्यों की अंतर्हित एकता, अथवा व्य[illegible]

अव्यक्त की गहनता, का भाव हो। इसके विपरीत 'प्रसाद' के नाटकों में सृष्टि और विश्वात्मा का नियमित और नियामक का सम्बन्ध है और उनमें दृश्य पदार्थों तथा अवस्थाओं के प्रति एक विरक्ति के भाव का समर्थन किया गया है। उनके संकेत इतने स्पष्ट हैं कि उनमें संकेतवाद ढूँढ़ना बेकार है। इन संकेतों में अधिकतर रूपक या उपमा से काम लिया गया है जिनमें उपमानों और उपमेयों का प्रयोग हुआ है। 'आकाश के नीले पत्र पर उज्ज्वल अक्षरों में लिखे हुए अदृष्ट के लेख' में 'अदृष्ट के लेख' स्पष्ट उपमेय है जो संकेत की गहनता का निराकरण कर देता है।

अतएव, हम कह सकते हैं कि 'प्रसाद' के नाटकों में असली ... नकली छायावाद अथवा रहस्यवाद के कोई विशेष लक्षण ... नहीं मिलते। उनकी शैली के एक विशेष प्रकार के विकास के ... कारण उनमें क्लिष्टता अवश्य आगई है। परन्तु यदि क्लिष्टता ... को भी हम छायावाद मानने लगेंगे तो छायावाद का एक ... रूप और उत्पन्न हो जायगा जो उसके प्रचलित रूप ... भिन्न होगा।

वस्तु और घटना संगठन

'प्रसाद' के नाटकों की वस्तु ऐतिहासिक है, यह हम कई बार ... चुके हैं। वस्तु की ऐतिहासिकता में, यह खयाल किया जा ... सकता है कि, लेखक की प्लॉट-रचना का कौशल बहुत कम ... रहता है। परन्तु, वास्तव में, बात ऐसी नहीं है। दी हुई वस्तु को अपने कार्य के लिए उपयुक्त बनाना जितना कठिन है, उतना स्वकल्पित वस्तु को नहीं। क्योंकि कल्पित वस्तु को सोचते समय लेखक अपने उद्देश्य को समझता है, और उसकी वस्तु का प्रसार, घटनाओं

वस्तु की
ऐतिहासिकता

लिए पढ़ लेते हैं कि वे अकल्पनीय रहस्यों के लिए तैयार रहते हैं। परन्तु साधारण जीवन की कथा में हमको सड़क पर किसी के साइकिल का टायर फट जाने पर भी ग्लानि हो सकती है, यदि लेखक ने टायर फटने की परिस्थितियों की भूमिका नहीं रक्खी है। अभी दूकान से नई साइकिल खरीदी थी और दस कदम चलते ही उसका टायर फट गया—इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि लेखक ने भावी घटनाओं को अनुकूल बनाने के लिए इस घटना को जबर्दस्ती डाला है। साइकिल खरीदने की स्वाभाविक आवश्यकता जब तक पिछली परिस्थितियों में अग्रसर न होगी और दूकानदार की धूर्तता का जब तक हमें आभास न दिया जाएगा, तब तक टायर फटने की घटना का वस्तु में कोई स्थान न होगा।

आवश्यक घटनाओं का सगठन करने में लेखक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि उनके प्रसार में जटिलता इतनी न बढ़ जाए कि उसे सुलझाना कठिन हो जाए। प्रारम्भिक ग्रीक ट्रैजेडी में जब ऐसी अवस्था उपस्थित हो जाती थी तो किसी देवता आदि का अवतार कर उसे सुलझाया जाता था। भारतेन्दु ने अलौकिकता का विरोध किया है। अरस्तू ने भी इस दैवी माध्यस्थ्य का विरोध करते हुए लिखा है कि वस्तु की संकीर्णता और उसके उद्ग्रन्थन, दोनों, का वस्तु की भीतरी अवस्थाओं में ही उदय होना चाहिए।*

वस्तु अति जटिल न होनी चाहिए

---

*"It is therefore evident that the unravelling of the plot, no less than the complication, must

वाह्य साधनों का आश्रय लेखक प्रायः उस समय लेता है जब वह ग्रन्थियों को सुलझाने में या तो, जैसा कहा गया है, असमर्थ होता है, या प्लॉट के बहुत अधिक बढ़ जाने के कारण उसके लिए व्यग्र होने लगता है। वर्तमान समय के नाटकों में दैवी माध्यस्थ्य के अतिरिक्त अकल्पित वाह्य साधनों के और भी अनेक रूप हैं। कभी ऐन मौके पर प्रतिघातक पात्रों को दूर हटा दिया जाता है, कभी खोया हुआ वसीयतनामा मिल जाता है, कभी कोई सम्बन्धी, जिसको बहुत समय से स्वर्गवासी समझ लिया गया था, जीता-जागता आ उपस्थित होता है और कभी किसी प्रधान पात्र की मनोवृत्तियों में सहसा परिवर्तन हो जाता है। ये सब उपाय लेखक की दुर्बल शक्ति के सूचक हैं। <u>वास्तव में, लेखक को वस्तु-विकास में चरित्र की अनुरूपता पर सदा ध्यान रखना चाहिए।</u>* क्योंकि सामान्य पाठक भी किसी परम प्रतिभाशाली

---

arise out of the plot itself, it must not be brought about by *Deus ex Machina*"—Aristotle's Poetics, Butcher's translation.

* "In modern plays the fortuitous element assumes a number of forms, as when the villain is removed by a timely accident, or a lost will turns up, or an uncle, long reported dead, proves to be very much alive. But perhaps the commonest kind of arbitrary conclusion is that which depends upon a sudden and incredible change of heart in one of the persons of the

लेखक तक को अपने साधारण अनुभवों की अवज्ञा करने की स्वतंत्रता नहीं दे सकता।

नाटककार को वस्तु-निर्धारण करते समय पाठक या दर्शक की स्मरणशक्ति पर भी बहुत अधिक निर्भर न रहना चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि उसकी वस्तु बहु-घटना-संकुल न हो और पात्रों की संख्या यथाशक्ति कम रहे। इसके लिए प्लॉट का भी, जहाँ तक हो, सरल होना आवश्यक है। उपन्यास में लम्बे और अति जटिल प्लॉट भी वर्णना तथा विविध प्रसंगों के बीच में निभ जाते हैं। परन्तु नाटक को किसी विशिष्ट सीमा के भीतर नियमित रहना पड़ता है जिसके कारण लम्बे या जटिल प्लॉट को बलपूर्वक संकुचित करके अनेक घटनाओं का संकेतमात्र कर देना पड़ता है। नाटक की द्रुत गति के कारण, तब, इस बात की आवश्यकता पड़ जाती है कि दर्शक या पाठक प्रत्येक संकेत या सूचना को ध्यानपूर्वक ग्रहण करता जाए। जटिल और पात्र-बहुल नाटकों में प्रायः ऐसा होता है कि पाठक को, पढ़ते-पढ़ते, अनेक वार पात्र-सूची को उलटना पड़ता है।

जो नाटक अभिनेयता को भी दृष्टि में रखकर लिखे जाते हैं, उनके सम्बन्ध में नाटककार को ध्यान रखना चाहिए कि दर्शक नाट्यशाला में घटनाओं को होती हुई देखने के लिए जाता है, हो चुकी घटनाओं की सूचना सुनने के लिए नहीं। इससे भी

---

drama. Here we have to re-emphasise another great law, ... the law of the conservation of character." Hudson's Introduction to the Study of Literature, pp. 284—5.

यही बात सिद्ध होती है कि नाटक में वस्तु की जटिलता न बढ़ने पाए और उसमें सूचनात्मक दृश्य यथाशक्ति कम हों। परन्तु इसके कारण एक और बहुत बड़ी सावधानता, जो लेखक को रखनी पड़ती है, वस्तु के आरम्भ की है। 'आरम्भ' ऐसा न होना चाहिये कि जिसके पर्दे में कोई परम ज्ञातव्य इतिहास छिपा हो अथवा जिसको देखने या पढ़ने से उसकी पूर्व-परिस्थितियों को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न हो।* इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि लेखक को शून्य से प्रारम्भ करना चाहिए। आवश्यकता इतनी ही है कि 'आरम्भ,' नाटकीय दृष्टि से एक स्वाधीन सत्ता हो और वह अन्य महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर निर्भर न हो। प्रारम्भ के परिचायक दृश्य द्वारा 'आरम्भ' की इस कठिनता को कम करने का प्रयत्न किया जाता है, परन्तु यदि परिचायक दृश्य स्वयं इतिहास बनने लगता है तो भी नाटकीय अनौचित्य हो जाता है। परिचायक दृश्य जितना ही संक्षिप्त हो सके और घटनाओं का व्यापार जितना शीघ्र आरम्भ हो उतना ही अच्छा है।

वस्तु का 'आरम्भ'

प्रत्येक नाटक का 'प्लॉट' कुछ अङ्कों में विभाजित रहता है। संस्कृत नाटक में दस अङ्क तक रहते थे। आजकल अधिकतर तीन ही रक्खे जाते हैं। आधिकारिक वस्तु के स्वाभाविक विभाग, मुख्य प्रासङ्गिक वस्तुओं की अतिरिक्त आलोचना, अथवा घटनाओं के

अङ्क-विभाग

---

*"A beginning is that which does not itself follow anything by causal necessity, but after which something naturally is or comes to be."—Aristotle's Poetics.

विकास में कोई नया तत्त्व या प्रसंग आ मिलने के कारण इस विभाग की आवश्यकता होती है। कभी कभी प्राचीन संधियों का सिद्धान्त ही आधुनिक अङ्क-विभाग का सिद्धान्त हो जाता है। बहुत से नाटकों में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं भी रहता। उनके अङ्कों का विभाग कुछ विशिष्ट अवधि के बाद दर्शकों को विश्राम देने के लिए ही होता है।*

वस्तु-प्रसार में कभी कभी एक बात और भी देखने में आया करती है। वस्तु के जिस अंग पर नाटककार को अधिक जोर

---

*धनञ्जय ने अङ्क के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

"एकाहाचरितैकार्थमित्यमासन्ननायकम्।
पात्रैस्त्रिचतुरैरङ्कं तेषामन्तेऽस्य निर्गमः॥"

एकदिवसप्रवृत्तैकप्रयोजनसम्बद्धमासन्ननायकमऽबहुपात्रप्रवेशमऽङ्कं कुर्यात्। तेषां पात्राणामवश्यमऽङ्कस्यान्ते निर्गमः कार्यः।

"पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजस्य।
एवमङ्काः प्रकर्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः॥
पञ्चाङ्कमेतदवरं दशाङ्कं नाटकं परम्॥"

अर्थात्,— अङ्क में पात्र थोड़े हों—तीन चार, उन सब का प्रयोजन एक हो, और उनके चरित की अवधि एक दिन हो। उसमें पताकादि का निर्देश हो और, अन्त में, बीज के उद्देश्य का ध्यान रखते हुए वस्तु का प्रसार हो। अङ्क के आरम्भ में पात्रों का प्रवेश आदि (? या प्रवेशक आदि दृश्य) होना चाहिए, और उसके अन्त में उन सब का निर्गमन। नाटक में अङ्कों की संख्या कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस हो सकती है।

देना होता है उसको वह किसी ढँग से पुनरावृत्ति कर दिया करता है। इसे हम 'सादृश्य' (parallelism) कह सकते हैं। शेक्सपियर में यह बहुत काफ़ी देखने में आता है। इसके प्रयोग के लिए भी वही सिद्धान्त आवश्यक है जो घटना-सघटन का है। 'सादृश्य' में लेखक की जबर्दस्ती, या असतीनता, का आभास न होना चाहिए। जिस 'सादृश्य' में विनोद या छंदवृत्ति का सम्मिश्रण रहता है वह अच्छा होता है। 'सादृश्य' समस्त घटनाओं में भी दिखाया जा सकता है और किन्हीं विशेष उक्तियों में भी। शेक्सपियर ने तो दो स्वाधीन सदृश वस्तुओं तक को लेकर उन्हें आपस में मिलाया है। पात्रों की सदृशता तो एक सामान्य बात है। इसके अतिरिक्त, 'सादृश्य' को कभी हम लेखक के एक ही ग्रन्थ में ढूँढ सकते हैं और कभी उसकी सम्पूर्ण नाट्य-रचना में भी। दूसरा ढँग बुरा है। 'सादृश्य' का प्रतिरूप 'विरोध' (contrast) है जो दो विरोधी घटनाओं, पात्रों या उक्तियों में दिखाया जाता है। इसका भी वही उपयोग है जो 'सादृश्य' का है।

'सादृश्य' और 'विरोध'

वर्तमान साहित्यिक नाटक में 'कॉमिक' (comic) भी वस्तु का ही एक अङ्ग होता है। प्राचीन भारतीय नाटक में भी यह वस्तु का ही अङ्ग होता था। फिर भी वह, एक दृष्टि से, वस्तु से भिन्न रहता था। उसके लिए एक स्वतंत्र पात्र की योजना की जाती थी जिसका वस्तु के विकास से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता था। यह माना, कि 'विदूषक' अपने स्वामी के प्रेम-रहस्यों में मंत्रणा देता था; परन्तु उसके कर्तृत्व में कोई व्यापार नहीं

वस्तु में कॉमिक

होता था और इस प्रकार उसका एकमात्र उपयोग अपने स्वामी क मन बहलाना ही था। सूचनार्थक प्रवेशक आदि में यदि कहीं व आता था तो उसका आना, न आना, बराबर था; क्योंकि सूचना देने का काम अन्य गौण पात्रों द्वारा भी कराया जा सकता था। इसी प्रकार, शेक्सपियर के नाटकों में भी एक विशिष्ट मसखरे पात्र को हम देखते हैं। परन्तु द्विजेन्द्रलाल राय में ऐसे पात्र नहीं रहते। उनके कॉमिक की सामग्री वस्तु-व्यापार से सम्बन्ध रखने वाले यथार्थ पात्रों में ही मौजूद रहती है। विविध पात्रों के चरित्र-वैचित्र्य और उनकी भिन्न भिन्न दुर्बलताओं को दिखाकर ही राज्वाबू हँसने-हँसाने की चेष्टा करते हैं, और उनके विनोद में यथेष्ट सजीवता रहती है। इस प्रकार का हास-विन्यास, परिभाषा के अनुसार, शायद 'कॉमिक' न कहला सके परन्तु वह संस्कृत के 'विदूषक' और यूरोप के 'बफून' या 'क्लाउन' की कल्पना से अधिक श्रेष्ठ है। विदूषक' और 'बफून' कृत्रिम थे; परन्तु राय के जैसे हास्योत्पादक पात्र जीवन की वास्तविकता से सम्बन्ध रखते हैं और उनकी हास्योत्पादकता से उनके जिस चरित्र की उद्भावना होती है वह प्राय: वस्तु-व्यापार को अग्रसर करने में सहायक होता है। बिलकुल वर्तमान ढंग के यूरोपीय अ-'सम्पूर्ण'-नाटकों में, जिनमें अधिकतर सामाजिक प्लॉट ही रहता है, सम्यक् हास्य कम होता है। उसका स्थान विनोदशीलता को दिया जाता है जिसमें वाग्वैदग्ध्य, व्यंग्य आदि ही इस प्रकार के मनोरञ्जन की सामग्री जुटाते हैं।

श्रीयुत जयशङ्कर 'प्रसाद' के चार ऐतिहासिक नाटकों में भिन्न भिन्न घटनाओं और पात्रों को एक सूत्र में बाँधने की सफलता-पूर्वक चेष्टा की गई है। यह लेखक का कौशल है; यद्यपि,

प्रसाद' के भिन्न भिन्न नाटकों की वस्तु-रचना

हम जानते हैं, नाट्य-कर्म की अपेक्षा उन्होंने इतिहास के प्रति अपने कर्तव्य को अधिक गुरुता दी है। 'विशाख' का प्लॉट तो सरल है और उसमें पात्रों की संख्या भी बहुत कम है, अतः, उसका बिलकुल स्वाभाविक और बहुत अनुकूल प्रसार होता है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' का 'कार्य' पूर्वोद्दिष्ट है और इसकी घटनावली भी वेग से उसकी ओर बढ़ती चली है। परन्तु पात्रों की संख्या कुछ अधिक है जिससे कहीं कहीं किञ्चित् निरर्थक और कृत्रिम दृश्य आगए हैं। उदाहरणार्थ, तक्षक को ढूँढ़ने के लिए निकली हुई दामिनी को माणवक से भेंट होने का कोई उद्देश्य नहीं है। इस दृश्य की कृत्रिमता इस बात से और भी बढ़ गई है कि माणवक दामिनी को संदिग्ध दृष्टि से देखता हुआ भी उससे जो तात्विक ढँग की बात चीत करता है उसमें विश्रम्भ की-सी छाया आजाती है। जिससे हम निश्चिन्त होकर बातचीत नहीं कर सकते उससे लम्बी शास्त्रीय चर्चा कैसी, और कैसा उसके साथ विश्रम्भ ? पात्रों की भाममात्र बहुलता में एक दो चरित्र अनावश्यक जैसे प्रतीत होते हैं। दामिनी का पात्रत्व अनिवार्य नहीं मालूम होता।

अन्य नाटकों में 'राज्यश्री' और 'स्कन्दगुप्त' की वस्तु-रचना उत्कृष्ट है। 'राज्यश्री' में चार और 'स्कंदगुप्त' में पाँच अङ्क हैं। 'राज्यश्री' गौड़ और मालव की दुरभिसंधियों के कारण जटिल होने पर भी, उसकी वस्तु सक्षिप्त है, जिससे भिन्न भिन्न दृश्यों का प्रभाव सुनिर्दिष्ट होगया है और व्यापार-विहीन दृश्यों की सम्भावना नहीं रही है। अङ्कों का विभाग भी वस्तु को अलग अलग परिणति के आधार पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम अङ्क में राज्यश्री

के बन्दिनी होने तक की परिस्थितियों का विकास है; दूसरे में शान्तिभिक्षु के गौड़ सैनिकों में मिल जाने के कारण बन्दिनी नायिका की एक नई परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तीसरे में उसी परिस्थिति का परिणाम, तथा विकटघोष (शान्तिभिक्षु) और सुरमा के मिलने से चीनी यात्री का परिचय और उसका संकट दिखाया गया है, और अन्तिम अङ्क में नाटक का उपसंहार है जिसमें चीनी यात्री के माध्यस्थ्य का यथेष्ट भाग है। इसी प्रकार 'स्कंदगुप्त' में भी एक निर्दिष्ट उद्देश्य को लेकर वस्तु और नाटक का विभाग किया मालूम होता है। परन्तु 'स्कंदगुप्त' नाटक बहुत बड़ा होगया है—'राज्यश्री' से उसमें सौ पृष्ठ अधिक हैं—और इसका कारण मुख्य पात्रों की अधिकता और उनका चरित्र-विकास है। इस प्रवृत्ति में व्यापार-विहीन दृश्य यदि बहुत नहीं तो कुछ अधिक अवश्य हो गए हैं। परन्तु कोई दृश्य निरस नहीं हुआ है और कथाप्रसार को कुण्ठित नहीं करता। 'स्कंदगुप्त' का पहला दृश्य अच्छा नहीं है, क्योंकि वह इतिहास का एक परिच्छेद-सा हो गया है और पाठक या दर्शक की मनोरञ्जन-वृत्ति की अपेक्षा उसकी स्मरण-शक्ति का ही अधिक आग्रह करता है। प्लॉट की दीर्घता के कारण और भी कहीं कहीं स्मरणशक्ति की अपेक्षा होती है।

परन्तु 'अजातशत्रु' एक अकुशल नाटक है। उसकी वस्तु-रचना में उद्देश्य-हीनता है—वास्तव में 'अजातशत्रु' अनेक वस्तुओं का सम्मिश्रण है—और अजातशत्रु नाटक का नायक होते हुए भी दूसरे तादृश पात्रों की अपेक्षा नायक कहलाने का कोई विशेष अधिकार नहीं दिखा सकता। नाटक में उसका परिणाम वही होता है जो प्रसेनजित, विरुद्धक आदि अन्य अनेक पात्रों का होता है। कोई पूछ सकता है, कि बिम्बसार ही को नायक क्यों न कहा जाए, और हम सोचते हैं कि गौतम नाटक का

में ऐसा 'विरोध' अधिकतर कम रहता है, दो विरोधी प्रतिमाओं की योजना कम रहती है; क्योंकि वहाँ द्वन्द्व समाज की उपेक्षाओं, परम्परागत रूढ़ियों और निर्मम प्रसंगों के साथ होता है। 'प्रसाद' ने कोई सामाजिक नाटक नहीं लिखा है, और, यद्यपि उनके ऐतिहासिक नाटकों में विरक्तप्राय व्यक्ति समाज और संसार को मान्यताओं के प्रति आक्षेप करते हैं, उन व्यक्तियों के विरुद्ध में समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप किसी पात्र की सघटना सम्भव नहीं है। अतः, उनके विरोध में हमें प्रवृत्ति-परवश सामान्य व्यक्तियों को प्रतिमाओं के ही दर्शन होते हैं।

हास्य रस की प्रतिपत्ति के लिए 'प्रसाद' ने 'विशाख' की भूमिका में अपने संक्षिप्त विचार प्रकट किए हैं। उनके मत में - हास्यरस मनोरञ्जनी वृत्ति का विकास है; परन्तु प्रसाद' में क्योंकि हमारी जाति परतन्त्र होने के कारण यहाँ रोने से ही फुरसत नहीं, इसलिए हास्य का उत्तम रूप हमारे साहित्य में दिखाई देना अकल्पनीय है। अतः 'प्रसाद' की दृष्टि में परिहास का उद्देश भी संशोधन है। कहना कठिन है कि इस उद्देश्य को कहाँ तक दृष्टिगत रख कर उन्होंने अपने नाटकों में हास्य का प्रयोग किया है। वह थियेट्रिकल कम्पनियों के मूल कथा से विच्छिन्न हास्य को अप्रयोजनीय समझते हैं। विच्छिन्न हास्य अप्रयोजनीय है भी। 'प्रसाद' का हास्य कथावस्तु का ही एक अंग होता है। 'विशाख' का हास्य संस्कृत नाटकों के ढँग का है। परन्तु एक बात में वह संस्कृत के प्रयोग से भी बढ़ गया है। राजा का विदूषक एक चाटुकार हँसोड़ और गुप्त सलाहकार ही नहीं है, वह वस्तु को परिणति का एक प्रधान साधक भी बन गया है। परन्तु 'अजातशत्रु' का

विदूषक, 'वसन्तक, राजवैद्य है जो राजा का मनो-विनोद न कर पाठकों का या अपना ही विनोद करता है। वस्तु में उसका कोई उत्तरदायित्व नहीं, उसके वैद्यकज्ञान की भी कहीं आवश्यकता नहीं पड़ती, और वह शेक्सपियर के कुछ क्लाउनों की भाँति केवल घटनाओं और परिस्थितियों की, अपने लिए, कुछ समीक्षा किया करता है। अपने लिए इस लिए, कि पाठक को उसकी समीक्षाओं की विशेष आवश्यकता नहीं, न तो उनसे कोई विनोदवृत्ति ही विशेषरूप से उत्तेजित होती है और न पाठकों की जानकारी ही बढ़ती है—हाँ, साधारण सा मन-बहलाव अवश्य हो जाता है। उसके 'ऐं, किन्तु, परन्तु' या बुढ़िया को जवान बनाने वाली धन्वन्तरि की पुड़िया में कोई चुस्ती या स्फूर्ति नहीं मालूम होती। हास्य का एक मुख्य प्रयोजन यह है कि वह परम गंभीर घटनाओं के व्यापार और पाठकों के उद्दीप्त मनोवेगों की परिश्रान्ति में उन्हें बीच बीच में कुछ विश्राम देता रहे। वसन्तक इस कर्तव्य का केवल कुछ अंश तक पालन करता है।

'नागयज्ञ' में कोई विशेष हास्य नहीं है। उसका जो थोड़ा आभास प्रथम अङ्क के छठे दृश्य में है वह परम शिथिल और अर्थहीन है। 'स्कंदगुप्त' का हास्य सामान्यरूप से अच्छा है और उसकी एक अच्छाई यह है कि वह समस्त नाटक में थोड़ा थोड़ा, व्याप्त है। मुद्गल की उक्तियों में कहीं कहीं विदग्धता अच्छी पाई जाती है। उसे ऊँघता हुआ देख कर जब मातृगुप्त परिहास से उसकी गठरी खींचता है तो वह उठकर कहता है—"ठहरो भाई, हमारे जैसे साधारण लोग अपनी गठरी आप ही ढोते हैं। तुम कष्ट न करो।"

वस्तु साधारण होते हुए भी इनकी शैली में ही 'अद्भुत' का तत्व आ जाता है। 'हृदयेश' की सामाजिक कहानियों से उनकी शैली की अद्भुतता दूर नहीं हुई है।

'अद्भुत' वस्तु या चरित्र की कल्पना में हम उन परिस्थितियों का विचार करते हैं जो मनुष्य के साधारण दैनिक अनुभवों से हटी हुई हैं। आदर्श के लिए चेष्टमान चरित्रों में प्रायः अद्भुतता की कुछ मात्रा मिल जाती है। यथार्थ जीवन की महत्वाकांक्षाओं में भी उसकी झलक आ सकती है। परन्तु भावुकता, प्रेम या वीरता के 'अद्भुत' का आधार अधिकतर दंतकथाएँ, पुराण या इतिहास ही अभी तक होते आए हैं। संस्कृत नाटक की जो वस्तुएँ 'उत्पाद्य' हैं, उनका आदर्श भी उस समय की प्रख्यात वस्तुएँ ही हैं, जो 'अद्भुत' के तत्व से भरी हुई हैं।

'कामना' और 'एक घूँट' को छोड़कर 'प्रसाद' के अन्य सब नाटकों की वस्तुएँ 'प्रख्यात' हैं। राजचरित्रों के राजकीय जीवन और उनकी उस काल की राजनीति तथा 'प्रसाद' में 'अद्भुत' परिस्थितियों में यदि हमको 'अद्भुत' का प्रचुर परिमाण में दर्शन हो तो क्या आश्चर्य है! साथ ही सुव्यक्त आदर्शवादिता भी तो है। (परन्तु 'प्रसाद' के 'अद्भुत' में कुतूहल है, आनन्द है।) 'अद्भुत' का साहित्य में अपना एक विशिष्ट और महत्वपूर्ण स्थान है, उसका कुछ उद्देश्य है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसे उपहास्य और कृत्रिम न होना चाहिए। 'प्रसाद' के अद्भुत में बाजीगर के से खेल नहीं है। मानव की स्वाभाविक कुतूहल-वृत्ति को सामान्य मानवता की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर एक एक स्वाभाविक

अवस्था द्वारा क्रमशः जागरित करके वह हमको एक ऐसी परिस्थिति में रख देते हैं जहाँ विस्मय के आनन्द का अनुभव करते हुए भी हम अपने विस्मय से अपरिचित रहते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'स्कन्दगुप्त' स्वाभाविक 'अद्भुत' के बड़े ऊँचे उदाहरण हैं। दोनों अपनी परिस्थितियों और क्रिया-कलाप द्वारा पाठक को एक ऐसे अपार्थिव लोक में ले जाते हैं जहाँ सब कुछ नया होता हुआ भी पार्थिव है—जहाँ देवलोक और मर्त्य-लोक की मुग्धकारी अद्भुत संधि है।

वस्तु की अद्भुतता चरित्र, परिस्थिति, घटना आदि की अद्भुतता की समष्टि है। जहाँ वस्तु की अद्भुतता होगी वहाँ अङ्गरूप से चरित्र आदि भी भिन्न भिन्न परिमाण में अद्भुत रहेंगे, और जहाँ चरित्र आदि सब अद्भुत होंगे वहाँ वस्तु 'प्रसाद' के 'अद्भुत' भी स्वाभाविक रूप से अद्भुत ही हो जाएगी। में अङ्गाङ्गि-सम्बन्ध अंगों का समान रूप से सहयोग न होने पर प्राय' वस्तु की अद्भुतता पूर्णतया प्रतिपादित नहीं होती, उसमें अद्भुतता का आभासमात्र रहता है। इसमें कोई बुराई नहीं है। परन्तु अंगों में 'अद्भुत' होने के लिए कम से कम इस आभास-रूप आधार की आवश्यकता अवश्य रहती है। इस भाँति, अत्यन्त साधारण वस्तु में 'अद्भुत' पात्र या 'अद्भुत' घटना का योग ठीक नहीं होता। उदाहरण के लिए 'कायाकल्प' की सामाजिक कथा उसके अप्राकृतिक 'अद्भुत' को देखते हुए साधारण सी कही जाएगी और इस अवस्था में उसके सामाजिक और अप्राकृतिक तत्त्वों का विरोध ग्लानिकर हो गया है। 'चन्द्रकान्ता' की अप्राकृतिकता में यह बात नहीं है। 'प्रसाद' के नाटकों में जहाँ वस्तु पूर्ण 'अद्भुत' की कोटि

इस प्रबन्ध के आरम्भ में कहा गया है कि कथोपकथन नाटक का एक परम आवश्यक और महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कथोपकथन नाटक का एकमात्र उपकरण है

कथोपकथन का महत्त्व

चरित्र-चित्रण और वस्तु-व्यापार का वह एकमात्र नहीं तो, प्रधान साधन अवश्य है। अतः, कथोपकथन की सफलता पर समस्त नाटक की बहुत बड़ी सफलता निर्भर रहती है।

कथोपकथन को, इसलिए, व्यवहारानुकूल, भावव्यंजक और चुस्त होना चाहिए। चुस्त का अभिप्राय यह नहीं कि उसमें चञ्चलता या चपलता हो। विषय और पात्र की गंभीरता का ध्यान रख कर ही नाटककार को कथोपकथन की भाषा का प्रयोग करना चाहिए। अतएव, यदि हास्य या विनोद, अथवा विदूषक आदि पात्रों की भाषा में उचित चापल्य भी है तो वह गुण हो जाएगा। प्रत्येक अवस्था में कथोपकथन के लिए यह आवश्यक है कि वह वस्तु-प्रसार में सहायक और उसका उत्कर्ष-साधक हो।

बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटकों में हम इन गुणों को कहीं अधिक और कहीं कम मात्रा में पाते हैं। कहीं बिलकुल नहीं पाते। उदाहरण के लिए 'विशाख' में कथोपकथन को पात्रों की योग्यता का सापेक्ष बनाया गया है।

'प्रसाद' के कथोपकथन के लक्षण

साथ ही अवस्था और परिस्थिति का भी ध्यान रक्खा गया है। चलते-फिरते व्यवहार में जो लोग कामकाज भर की बातचीत करते हैं, परिस्थितिविशेष में वही गम्भीर और तत्त्व-जिज्ञासु से मालूम होते

है। नरदेव राजा, अपनी यातनाओं के अनुसरण में, अथवा न्याय करते समय, जैसी व्यवहारोपयुक्त नाधी-सादी और संक्षिप्त बातचीत करता है वैसी प्रेमानन्द के प्रभाव में सन्यासी होकर वह नहीं करता। सत्य की जिज्ञासा और शान्ति की चाह के कारण अब उसमें वैराग्यपूर्ण दार्शनिकता का उदय होता है और वह सोचता है—"एक पिशाचग्रस्त मनुष्य की तरह मैंने प्रमाद की धारा बहा दी। गर्व के उद्वेग में मैंने सोचा था कि उस नदी में अपने बाहुबल से सतरण कर जाऊँगा, पर मैं स्वयं बह गया। सत्य है। परमात्मा की सुन्दर शान्त सृष्टि को, व्यक्तिगत मानापमान द्वेष और हिंसा से किसी, अधिकारी को भी आलोड़ित करने का अधिकार नहीं है। ·····" अनुराग और कृतज्ञता की भावना में थोड़ी-सी कविता भी शायद उसमें आने लगी है। इसलिए अपने जीवित पुत्र को पाकर वह कहता है—"भगवन् तू धन्य है, इस प्रकाण्ड दावाग्नि में नन्ही सी दूब तेरी शीतलता में बची रही।" परन्तु वह बहुत नहीं बोलता और अधिक लम्बे भाषण नहीं करता। यही स्वाभाविक है। ग्लानि, विराग और कृतज्ञता के मिश्र भाव में हृदय और मानस किञ्चित् जड़ीभूत-सा हो जाता है और बोलने की प्रवृत्ति अधिक नहीं होती। यदि हम नरदेव को इसके बाद में भी पूर्ण सन्यासी के रूप में देखते तो शायद उसकी लम्बी वक्तृताएँ सुनते। उस समय वह उपयुक्त होतीं।

परिस्थिति का प्रभाव

नरदेव की परिवर्तित परिस्थिति सन्यास की है। जहाँ परिस्थिति में किसी अन्य प्रकार का परिवर्तन हुआ है वहाँ के परिवर्तन का भी दूसरा रूप है। चन्द्रलेखा का—

है। खेतों में फलियाँ तोड़ती हुई यह भोली-भाली भीरु बालिका जब पहले-पहल विशाख के सामने पड़ती है तो उसकी श्लाघा और सहानुभूति से किञ्चित् लज्जित भी मालूम होती है और अधिकतर चुप ही रहती है, परन्तु वही जब बाद में प्रेमिका बनकर विशाख के साथ एकान्त में बातचीत करती है तो उसकी वाणी में कोमल कवित्व और दार्शनिकता का तत्त्व आ मिलता है। प्रेम का आरम्भ कविता और जिज्ञासा का मनोहर सम्मिलन है। चंद्रलेखा कहती है—"विशाख! कौन कह सकता है? क्या क्षितिज की सीमा से उठते हुए नील नीरद-खण्ड को देखकर कोई बतला देगा कि यह मधुर फुहारा बरसावेगा कि करकापात करेगा। भविष्य को भगवान् ने बड़ी सावधानी से छिपाना है और उसे आशामय बनाया है।" 'विशाख' में इस प्रकार के भाषण स्वाभाविक होने के अतिरिक्त सोद्देश्य भी हैं। वे यथार्थ परिस्थिति का परिचय कराते हैं और वस्तु का विकास करते हैं।

पात्रों के स्वाभाविक कौतूहल और जिज्ञासा की यह प्रेरणा 'अजातशत्रु' में स्वयं लेखक की प्रवृत्ति बन गई है। इसका एक प्रमाण यही है कि 'अजातशत्रु' में बहुत अधिक दार्शनिक अथवा आदर्श पात्र आगए हैं। बिम्बसार, वासवी, गौतम, जीवक और मल्लिका किसी न किसी अंश में दार्शनिक हैं। ऐसे लोग जब आपस में या किसी दूसरे से बातचीत करेंगे तो दो बातें अवश्य देखने में आएँगी। व्यवसाय की कमी के कारण उनके वार्तालाप में यथेष्ट सजीवता नहीं होगी और पात्रों में उत्तर पाने की विशेष उत्सुकता के न होने से उनके भाषण प्रायः लम्बे

'अजातशत्रु' में कथोपकथन

स्वायत्त से प्रतीत होंगे ; इसके अतिरिक्त लम्बे तथा स्वायत्त भाषणों के कारण नाटकीय क्रिया-व्यापार में एक प्रकार की शिथिलता उत्पन्न हो जाएगी। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जब बिम्बसार और वासवी आपस में वार्त्तालाप करते हैं तो वस्तु अधिकतर अणुमात्र भी आगे नहीं बढ़ती। जीवक भी जब उनसे मिलता है तो 'नियति की डोरी' में झूलने लगता है। यद्यपि 'नियति की डोरी पकड़ कर' वह कर्मकूप में कूदना चाहता है, परन्तु नाटक में उसके कोई विशेष कर्म हमें दिखाई नहीं देते। इस दृष्टि से, ऐसा भ्रम होता है कि कहीं कहीं 'अजातशत्रु' के कथोपकथन साधन होने के स्थान में स्वयं साध्य बन गये हैं।

कथोपकथन व्यापार का आश्रय होना चाहिए

नाटक लिखने की प्रवृत्ति में, यह आवश्यक है कि कथोपकथन के तत्व पर आधिपत्य प्राप्त करने के साथ साथ नाटककार घटनाओं को शीघ्रता और लाघव के साथ उपस्थित करने की आवश्यकता की भी उपेक्षा न करे। उपन्यासलेखक प्रायः सफल नाटककार क्यों नहीं हो पाता, इसका यही कारण है कि वह अपने कथोपकथनों को अधिक वर्णनात्मक कर देता है और उनमें व्यापार का वह निर्देश और उसकी वह आकुलता नहीं ला सकता जो नाटकीय रचना की आत्मा है।

'प्रसाद' के अन्य नाटकों में विरतपात्रों की अधिक संख्या न होने के कारण, हम निद्रा की उस अलसता का सा अनुभव नहीं करते जो 'अजातशत्रु' के बिम्बसार आदि के सम्पर्क से हमको होता है। यद्यपि अन्य नाटकों के पात्र भी प्रायः तत्त्व-निरूपण की प्रवृत्ति दिखाते हैं तथापि वे अपने जीवन के किसी न किसी उद्देश्य

अन्य नाटकों में कथोपकथन

ग्रहण करने के लिए कुछ समय की आवश्यकता है और जिसकी रचना के लिए उससे भी अधिक समय की, उसका बोलचाल की भाषा से कोई दूर का नाता भी नहीं हो सकता। भाषा पर एकाधिकार रखने वाला बड़े से बड़ा कवि भी शायद ही अपनी प्रेयसी से इस प्रकार बोलता या बोल सकता हो। ऊपर के उदाहरण के साथ 'अजातशत्रु' में से ही एक दूसरे उदाहरण की तुलना करने से हमारा कथन अधिक स्पष्ट हो जायगा।—

"ओह! अब समझ में आया। इसमें हमारी विमाता का व्यंगस्वर है, यह काशी की प्रजा का कण्ठ नहीं है, इसका प्रतिकार आवश्यक है। इस प्रकार अजातशत्रु को कोई अपदस्थ नहीं कर सकता।"

इस भाषा में और पिछले उदाहरण की भाषा में आकाश पाताल का अन्तर है। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि इस उदाहरण की भाषा ठेठपन की मान्यता लिए हुए है या उसमें साहित्यिक दोष हैं। ऐसी भाषा शिष्ट समाज की बोल चाल में असम्भव नहीं। साथ ही इसमें साहित्यिक गुण भी वर्तमान है। इसके प्रयोग से नाटक की साहित्यिकता को कोई हानि नहीं पहुँचती, और वह सुबोध और भावद्योतक भी है। इन दोनों भाषणों में दूसरा तो अजातशत्रु के अपने मानसिक भावों का सहज उद्गार है, परन्तु पहले को पढ़कर यह मालूम होता है मानों उदयन लेखक द्वारा रटाए गए कुछ वाक्यों को मागन्धी (या, कहना चाहिए, मागन्धी की प्रतिमा) के सामने दुहरा रहा है। दूसरा स्वाभाविक है परन्तु पहला कृत्रिम।

अस्वाभाविक भाषा से हानि

नाटक में लदी हुई भाषा का सब से बुरा परिणाम यह होता कि उससे परम व्यापृत वस्तु भी निर्व्यापार और निश्चेष्ट हो ती है। पठन में रंग संकेतों द्वारा मानसिक पात्रों को और भिनय में अभिनेताओं को हम एक विशेष प्रकार से हाथ-पैर लाते देख सकते हैं परन्तु उन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का सम्यक् अध्ययन नहीं कर सकते जिनके वशीभूत हो वे हिलते-डुलते हैं। अभिनय में एक दूसरी कठिनता यह भी हो सकती है कि यदि अभिनेता भी उस भाषा को नहीं समझता जिसका वह प्रयोग करता है तो वह अपनी चेष्टाओं और अपने भावों में भी स्वाभाविकता नहीं ला सकेगा।

घोर कथन की दार्शनिकता— उसका परिणाम

'अजातशत्रु' में अनेक दृश्य ऐसे हैं जिनमें आरम्भ में निर्व्यापारता और बाद में व्यापार हमें एक साथ ही देखने को मिलते हैं। ऐसे दृश्य प्रायः वे हैं जिनमें बिम्बसार और वासवी पहले कुछ देर तक दार्शनिक मीमांसाएँ करते रहते हैं और फिर किसी अन्य पात्र या पात्रों के आ जाने से उनकी शान्ति का भङ्ग हो जाता है और परिस्थिति में कुछ उत्तेजना आ जाती है। दूसरे अङ्क का छठा दृश्य इसका अच्छा उदाहरण है। भूतपूर्व सम्राट् और सम्राज्ञी कभी शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की मीमांसा करते हैं और कभी ववंडर की। इतने में ववंडर ही के समान छलना वहाँ प्रवेश करती है, और सब दृश्य और वातावरण की शान्तता कुछ विक्षुब्ध होती है। मालूम होता है, 'प्रसाद' स्वयं शान्त दृश्य और ऐसे शास्त्रार्थ पूर्ण कथोपकथन की नीरसता को अपने मन में स्वीकार करते हैं इसीलिए ऐसे शास्त्रार्थ नाटक में स्वत-उद्दिष्ट न होकर

किसी अन्य पात्र के प्रवेश से विच्छिन्न हो जाते हैं और कोई नया प्रसङ्ग आरम्भ होता है। यथार्थ में, ऐसे दृश्य अंश रूप में भी जितने कम हों उतना ही अच्छा है। क्योंकि, जिस प्रकार किसी सोते हुए पात्र को स्टेज पर अकेले दिखाना अर्थहीन और क्लान्तिकर होगा उसी प्रकार दो व्यक्तियों को शान्तिपूर्ण शास्त्र-चर्चा करते हुए दिखाना भी। व्यापारोपयुक्त भाषणों की दृष्टि से 'राज्यश्री' सर्वश्रेष्ठ नाटक है, फिर क्रमशः 'स्कन्दगुप्त' 'विशाख' और 'जनमेजय का नागयज्ञ'। इन नाटकों के कथोपकथन में शुष्क दार्शनिकता नहीं, या नगण्य है और भाषा की जटिलता भी नहीं है।

लम्बे भाषण

लम्बे भाषण भी आरम्भ में दार्शनिकता की प्रवृत्ति से ही उत्पन्न होते हैं। जो पात्र महात्मा हैं वे प्रायः लौकिक व्यवसाय की भावना से नहीं बोलते और जब वे उपदेश देते या सांसारिक दृश्यों की निस्सारता का विवेचन करते हैं तो वे उत्तर की कामना नहीं करते। जो दूसरे पात्र उनसे प्रभावित होकर उन्हें सुनते हैं वे उनके व्यक्तित्व और उनकी ज्ञान-गरिमा से अभिभूत होकर कुछ बोलने में अपने को असमर्थ पाते हैं। महात्माओं से बातचीत करने में यहम या उत्तर-प्रत्युत्तर थोड़े ही हुआ करता है। परन्तु, जब दूसरे लोग भी, मानों उनके स्वर्गाधिकार लें, लम्बी लम्बी वक्तृताएँ देने लगते हैं तो यह व्यवहार-विरुद्ध हो जाता है। वे इस संसार के मनुष्य हैं, उनके सांसारिक उद्देश्य हैं, वे जिन लोगों से मिलते हैं कार्यवश मिलते हैं। अतः अपनी बातचीत में उन्हें दूसरों को भी बोलने का अवसर देना चाहिए। विरुद्धक यदि अपनी माता के रोष में आकर उसकी

उत्तेजनामयी लम्बी वक्तृता को धैर्यपूर्वक सुन लेता है तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु 'अजातशत्रु' के तीसरे अङ्क के चौथे दृश्य में कारायण और शक्तिमती की बातचीत पर सचमुच में आश्चर्य किया जा सकता है। कारायण और शक्तिमती, दोनों में से कोई किसी के रोष में नहीं है, प्रत्युत उनमें एक प्रकार का विवाद-सा हो रहा है। कैसे दोनों में इतना धैर्य है कि वे एक दूसरे को अपनी पूरी पूरी स्पीच समाप्त कर लेने देते हैं। इनमें कारायण तो एक बार बोलते बोलते पूरे दो पृष्ठ ले लेता है, जिसमें यदि उसकी वक्तृता रटी हुई नहीं थी, तो उसे पूरे दस मिनट लगे होंगे। लम्बी वक्तृता से भी अधिकतर वही दोष उत्पन्न होता है जो शास्त्र-चर्चा या अत्यन्त साहित्यिक भाषा से हो सकता है।

'प्रसाद' के 'अजातशत्रु' में कहीं कहीं लम्बे भाषण आ गए हैं, परन्तु अधिक नहीं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में यद्यपि उतने लम्बे भाषण नहीं हैं, परन्तु कुछ स्थलों पर वे कथोपकथन के उपयुक्त नहीं हैं। नशे में चूर अश्वसेन दामिनी से दस लाइनों में बोलता है। और स्थलों पर भी पात्रगण अपनी बात चीत में सामान्यतः सात-आठ पंक्तियाँ ले ही लेते हैं। 'विशाख', 'राज्यश्री' और 'स्कंदगुप्त' इस दोष से सर्वथा मुक्त हैं। जहाँ कहीं कोई भाषण कुछ बड़ा हो भी गया है वहाँ किसी विशेष आवेग के कारण, जिसमें व्यक्ति उस समय तक चुप नहीं होता जब तक वह अपना पूरा गुबार नहीं निकाल देता। ऐसे भाषणों से कथा प्रसार में बाधा नहीं पहुँचती; कुछ न कुछ सहायता ही मिलती है।

कथोपकथन के साथ ही साथ, आत्म-भाषण या

स्वगतोक्ति

(Soliloquy) पर भी विचार कर लेना चाहिए। स्वगतोक्ति कथोपकथन का अङ्ग नहीं है परन्तु उसमें कथोपकथन की पूर्वकल्पना मौजूद रहती है। ऐसे पात्र कदाचित् ही किसी दृश्य के आरम्भ में आते हैं जो आत्म-भाषण करके तुरन्त ही चले जाते हों और जिनके जाते ही दृश्य समाप्त हो जाता हो। यथार्थ में, किसी की स्वगतोक्ति को सुनकर हम उसकी तात्कालिक अवस्था को जानते हैं और उससे सम्बन्ध रखनेवाली किसी सन्निकट घटना की आशा करते हैं। प्राय होता भी ऐसा ही है। ऐसे पात्र की उक्ति समाप्त होते ही किसी अन्य पात्र का प्रवेश होता है और तदुपरान्त कोई ऐसा व्यापार प्रवृत्त होता है जिसमें या तो स्वगत-वक्ता की अवस्था का आभास हो या जिसका स्वगत-वक्ता की अवस्था पर प्रभाव पड़े। यही स्वगतोक्ति का उपयोग है। विदूषक के आत्म-भाषण के उपरान्त उसकी माता का प्रवेश होता है और दोनों की बातचीत से घटना के जिस विकास की तैयारी होती है उसकी एक अस्फुट आशंका विदूषक के भाषण से ही हमारे भीतर बन चुकी होती है। इसके अतिरिक्त कभी कभी स्वगत-भाषण का प्रयोग भूत या भविष्यत् की सूचना के लिए भी कर लिया जाता है। अप्रधान पात्रों की स्वगतोक्ति का दूसरा कोई अभिप्राय नहीं होता।

स्वगतोक्ति के भिन्न भिन्न रूप और प्रयोग

जो स्वगतोक्तियाँ प्रधान पात्रों द्वारा कराई जाती हैं और जिनके द्वारा वक्ता की किसी विशेष अवस्था की सूचना या किसी भावी घटना की तैयारी उद्दिष्ट रहती है उनमें सजीवता और आवेग की यथेष्ट मात्रा रहनी चाहिए। उनमें व्यर्थ इतिहास-कथन और अनुत्साह न होना चाहिए। शेरिडन का सर पैट्रिक टॉजल

स्टेज पर आकर अपने आपको ही अपने विवाह का ब्यौरा विस्तार के साथ सुनाने लगता है। क्यों ? क्योंकि शेरिडन दर्शकों को अपने पात्रों का परिचय कराने के लिए उत्सुक है, परन्तु इसे योग्यता के साथ न करके वह उन्हें सार्थक या निरर्थक पिछली सूचनाएँ देने के लिए स्टेज पर बुला लेता है। इसमें, हम कह सकते हैं कि एक प्रकार से लेखक ही का व्यक्तित्व विद्यमान है। उपन्यासकार की भाँति वह दर्शकों को पहले अपने पात्रों से परिचित करा देने की चेष्टा करता है, उसको इतना धैर्य नहीं कि वह पात्रों को अपने कार्यों द्वारा स्वयं अपने परिचय देने का अवकाश दे। यह नाटककार की 'असामर्थ्य' का सूचक है। वह दृश्यों और घटनाओं को ऐसे अनुक्रम से नहीं सजा पाता कि दर्शक या पाठक ज्ञातव्य बातों को बिना बताए ही जान सकें। सूचनामात्र के लिए जिन स्वगतोक्तियों का प्रयोग होता है वे नीरस होती हैं। इसीलिए क्रियाशील प्रधान पात्रों में हम उन्हें नहीं चाहते। और इसीलिए, अप्रधान पात्रों में भी वे जितनी कम हों, या नहीं हों, उतना ही अच्छा है। सूचनार्थक स्वगतोक्तियों का काम सूचनार्थक कथोपकथन से, जैसा कि पुराने प्रवेशक आदि में किया जाता था, लिया जा सकता है। ऐसे दृश्य भी नीरस होंगे। उनकी नीरसता को दूर करने के लिए प्रयुक्त पात्रों के किसी स्वभाव या आकृति के वैचित्र्य की सहायता अपेक्षित है। 'अजातशत्रु' में कौशाम्बी-राजकुल की गार्हस्थ परिस्थिति की सूचना देने के लिए जीवक वैद्य और वसन्तक विदूषक की जो बातचीत कराई गई है वह नाटकीय दृष्टि से बड़ी उपयुक्त है।

स्वगतोक्ति का सदा से, और सर्वत्र, नाटकों में थोड़ा बहुत